मौर्यकाल : अशोक के अभिलेख

प्रथम शिलालेख

(गिरनार संस्करण)

मूलपाठ

१. इयं धंमलिपी देवानंप्रियेन
२. प्रियदसिना राञा लेखापिता [।] इध न किं
३. चि जीवं आरभित्पा प्रजूहितव्यं [।]
४. न च समाजो कतव्यो [।] बहुकं हि दोसं
५. समाजम्हि पसति देवानंप्रियो प्रियदसि राजा [।]
६. अस्ति पि तु एकचा समाजा साधुमता देवानं
७. प्रियस प्रियदसिनो राञो [।] पुरा महानसम्हि
८. देवानंप्रियस प्रियदसिनो राञो अनुदिवसं ब
९. हूनि प्राणसतसहस्रानि आरभिसु सूपाथाय [।]
१०. से अज यदा अयं धंमलिपी लिखिता ती एव प्रा
११. णा आरभरे सूपाथाय द्वो मोरा एको मगो सो पि
१२. मगो न ध्रुवो [।] एते पि त्री प्राणा पछा न आरभिसरे [।।]

पाठ-टिप्पणी--पाँचवीं पंक्ति में 'राजा' के पूर्व एक अतिरिक्त 'र' उकेर कर काटा गया है। ७ वीं पंक्ति में 'महानसम्हि' पढ़ने में 'मेहानसेम्हि' प्रतीत होता है। सेना, ब्यूलर व सरकार ने १२ वीं पंक्ति में 'ध्रुवो' को 'धुवो' पढ़ा है।

शब्दार्थ

लेखापिता=लिखवाई गई ; **इध**=यहाँ ; **आरभित्पा प्रजूहितव्यं**=मारकर हवन न किया जाए ; **कतव्यो**=कर्तव्य है अर्थात् किया जाए ; **बहुकं हि दोसं**=बहुत से दोष ; **पसति**=देखता है ; **अस्ति**=है, हैं ; **एकचा**=एक प्रकार के, कुछ ; **साधु**=शुभ, अच्छे ; **पुरा**=पहिले ; **महानस**=पाकशाला, रसोई, रन्धनागार ; **अनुदिवसं**=प्रतिदिन ; **बहूनि प्राण सतसहस्रानि**=कई लाख प्राणी ; **आरभिसु**=मारे जाते थे ; **सूपाथाय**=सूप के लिए ; **सेअज**=आज से ; **ती एव**=तीन ही ; **आरभरे**=मारे जाते हैं ; **मगो**=मृग, हिरन, पशु ; **ध्रुवो**=निश्चित रूप से, सदैव ; **पछा**=बाद में ।

अनुवाद

यह धर्मलिपि देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा द्वारा लिखवाई गई (अर्थात् उत्कीर्ण कराई गई) । यहाँ (अर्थात् मेरे साम्राज्य में) कोई जीव (अर्थात् मानवेतर जीवधारी) मार कर हवन न किया जाय और न कोई समाज किया जाय । देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा समाज में बहुत से दोष देखते हैं । (परन्तु) ऐसे भी कुछ समाज हैं जो देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा के मत में शुभ हैं । पहिले देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा के रन्धनागार (= रसोई) में प्रतिदिन बहुत लाख प्राणी सूप के लिए मारे जाते थे । (परन्तु) आज से जब यह धर्मलिपि लिखवाई गई (अर्थात् लागू की गई) सूप के लिए तीन प्राणी ही मारे जाते हैं । दो मोर और एक हिरण (अथवा दो पक्षी और एक पशु) । वह हिरण (अथवा पशु) भी सदैव नहीं । ये तीन प्राणी भी बाद में नहीं मारे जायेंगे ।

व्याख्या

१. **धंम लि(पी)पि**—कर्न ने इसका अर्थ किया है 'righteousness edict', ब्युलर ने 'religious edict', हूल्त्ज़ ने 'moral script' सेना ने केवल 'edict', भाण्डारकर ने 'धर्मशासन' तथा जनार्दन भट्ट ने 'धर्म सम्बन्धी लेख' । जैसा कि भाण्डारकर ने ध्यान दिलाया है स्वयं अशोक ने 'धंम लिपि' नाम का प्रयोग केवल चौदह शिलालेखों एवं सात स्तम्भ लेखों के लिए किया है । लघु शिलालेखों को वह 'धंम सावन' (= धर्म श्रावण) कहता है, पृथक् कलिंग लेखों को मात्र 'लिपि' तथा संघभेद अभिलेख को 'सासन' (= शासन = आज्ञा) । इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि 'धंमलिपि' से अशोक का आशय केवल उन लेखों से था जो उसने धर्म के प्रचारार्थ लिखवाये थे । यहाँ 'धंम' को अशोकीय 'धर्म' के अर्थ में लेना होगा न कि उस विस्तृत अर्थ में जिसमें भारत में 'धंम' शब्द का प्रयोग होता रहा है ।

२. **देवानंप्रिय** = देवानांप्रिय = देवताओं का प्रिय । यह अशोक की सम्मानसूचक उपाधि थी जिसे धारण करने का उसे शौक था । यह उपाधि प्राचीन काल में राजाओं के लिए प्रायः प्रयुक्त मिलती है । स्वयं अशोक ने इसे आठवें

शि०ले० के कालसी, शहबाजगढ़ी तथा मानसेहरा संस्करणों में अपने पूर्वगामी राजाओं के लिए अन्य संस्करणों के 'लाजाने' (= राजा लोग) शब्द के स्थान पर प्रयुक्त किया है। 'दीपवंस' (अध्याय ११) में यह अशोक के समकालीन लंका नरेश तिस्स के लिए प्रयुक्त है। लंका के एक अभिलेख में भी यह राजाओं की उपाधि की तरह प्रयुक्त हुई है। 'औपपातिक सूत्र' में इसका अर्द्ध-मागधी बहुवचन रूप 'देवाणुप्पियाणं' मिलता है। इसी ग्रन्थ में कुणिक अजातशत्रु को 'भो देवाणुप्पिया' कहकर सम्बोधित किया गया है। नागार्जुनी-गुहा-लेखों में इसका प्रयोग दशरथ के लिए किया गया है। इन तथ्यों से भाण्डारकर ने निष्कर्ष निकाला है कि यह 'उपाधि' राजाओं तक सीमित थी और इसका प्रयोग यह प्रदर्शित करने के लिए होता था कि वह राजा देवताओं द्वारा रक्षित है। (अशोक, पृ० ८)। बरुआ का कहना है कि इस उपाधि का प्रयोग इसलिए होता था क्योंकि राजा के अभिषेक के समय पुरोहित देवताओं का आह्वान करते थे। इसका अर्थ था यह प्रदर्शित करना कि राजा देवताओं का कृपापात्र और उनके द्वारा रक्षित है। इसलिए बरुआ ने इसका अंग्रेजी अनुवाद His Gifted Majesty किया है। अन्य विद्वान् इसको एक राजकीय उपाधि मानते हुए इसका अनुवाद प्राय: His Sacred and Gracious Majesty करते हैं। लेकिन दशरथ शर्मा (आई० एच० क्यु०, २६, पृ० १४९-५१) इसको एक राजकीय उपाधि मानने को प्रस्तुत नहीं हैं। उनका कहना है कि यह केवल एक आशीर्वचन मात्र था। उनके द्वारा प्रदत्त प्रमाण : (१) 'महाभाष्य' में 'देवानांप्रिय' को भवदादि वर्ग में 'दीर्घायुष्' और 'आयुष्मान्' के बीच में रखा गया है। (२) पाणिनि २.४.५६ पर टीका करते हुए पतञ्जलि ने इसका प्रयोग एक सामान्य वैयाकरण के लिए भी किया है। उसे एक पद में 'आयुष्मान्' कहा गया है और दूसरे में 'देवानांप्रिय'। (३) 'शबरभाष्य' से इसका समर्थन होता है। (४) 'हर्षचरित' में इसका प्रयोग सावित्री के मुख से सरस्वती के होने वाले पति दधीचि के लिए कराया गया है जो न राजा था और न वृद्ध। दशरथ शर्मा के अनुसार इन तथ्यों के प्रकाश में सर्वथा यह मानना चाहिये कि इस विशेषण का प्रयोग सामान्य जनों के लिए भी होता था। लेकिन इसके बावजूद हमें यह मानने में भी कोई आपत्ति नहीं है कि प्राचीन राजा इसको एक उपाधि के रूप में भी प्रयुक्त करते थे। अगर 'देवानांप्रिय' विशेषण का प्रयोग मात्र 'आयुष्मान्' अर्थ में होता तो अशोक अपने पूर्वजों को 'देवानांप्रिय' कह कर उल्लिखित नहीं करता। उस हालत में उसका अपने को 'देवानांप्रिय' कहना भी कुछ विचित्र होता क्योंकि 'आयुष्मान्' अर्थ वाले शब्द केवल बड़ों द्वारा छोटों के लिए प्रयुक्त होते हैं जैसा कि शर्मा जी ने स्वयं साग्रह कहा है। इसलिए हमें यह मानना सही लगता है कि अशोक के अभिलेखों में यह विशेषण एक राजकीय उपाधि के रूप में प्रयुक्त है। 'हर्षचरित' में भी अगर यह दधीचि जैसे व्यक्ति के लिये प्रयुक्त है जो राजा नहीं था तो स्वयं

शब्दार्थ

लेखापिता=लिखवाई गई ; **इध**=यहाँ ; **आरभित्पा प्रजूहितव्यं**=मारकर हवन न किया जाए ; **कतव्यो**=कर्तव्य है अर्थात् किया जाए ; **बहुकं हि दोसं**=बहुत से दोष ; **पसति**=देखता है ; **अस्ति**=है, हैं ; **एकचा**=एक प्रकार के, कुछ ; **साधु**=शुभ, अच्छे ; **पुरा**=पहिले ; **महानस**=पाकशाला, रसोई, रन्धनागार ; **अनुदिवसं**=प्रतिदिन ; **बहूनि प्राण सतसहस्रानि**=कई लाख प्राणी ; **आरभिसु**=मारे जाते थे ; **सूपाथाय**=सूप के लिए ; **सेअज**=आज से ; **ती एव**=तीन ही ; **आरभरे**=मारे जाते हैं ; **मगो**=मृग, हिरन, पशु ; **ध्रुवो**=निश्चित रूप से, सदैव ; **पछा**=बाद में ।

अनुवाद

यह धर्मलिपि देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा द्वारा लिखवाई गई (अर्थात् उत्कीर्ण कराई गई) । यहाँ (अर्थात् मेरे साम्राज्य में) कोई जीव (अर्थात् मानवेतर जीवधारी) मार कर हवन न किया जाय और न कोई समाज किया जाय । देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा समाज में बहुत से दोष देखते हैं । (परन्तु) ऐसे भी कुछ समाज हैं जो देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा के मत में शुभ हैं । पहिले देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा के रन्धनागार (= रसोई) में प्रतिदिन बहुत लाख प्राणी सूप के लिए मारे जाते थे । (परन्तु) आज से जब यह धर्मलिपि लिखवाई गई (अर्थात् लागू की गई) सूप के लिए तीन प्राणी ही मारे जाते हैं । दो मोर और एक हिरण (अथवा दो पक्षी और एक पशु) । वह हिरण (अथवा पशु) भी सदैव नहीं । ये तीन प्राणी भी बाद में नहीं मारे जायेंगे ।

व्याख्या

१. **धंम लि(पी)पि**—कर्न ने इसका अर्थ किया है 'righteousness edict', ब्युलर ने 'religious edict', हूल्त्ज़ ने 'moral script' सेना ने केवल 'edict', भाण्डारकर ने 'धर्मशासन' तथा जनार्दन भट्ट ने 'धर्म सम्बन्धी लेख' । जैसा कि भाण्डारकर ने ध्यान दिलाया है स्वयं अशोक ने 'धंम लिपि' नाम का प्रयोग केवल चौदह शिलालेखों एवं सात स्तम्भ लेखों के लिए किया है । लघु शिलालेखों को वह 'धंम सावन' (= धर्म श्रावण) कहता है, पृथक् कलिंग लेखों को मात्र 'लिपि' तथा संघभेद अभिलेख को 'सासन' (= शासन = आज्ञा) । इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि 'धंमलिपि' से अशोक का आशय केवल उन लेखों से था जो उसने धर्म के प्रचारार्थ लिखवाये थे । यहाँ 'धंम' को अशोकीय 'धर्म' के अर्थ में लेना होगा न कि उस विस्तृत अर्थ में जिसमें भारत में 'धंम' शब्द का प्रयोग होता रहा है ।

२. **देवानंप्रिय** = देवानांप्रिय = देवताओं का प्रिय । यह अशोक की सम्मानसूचक उपाधि थी जिसे धारण करने का उसे शौक था । यह उपाधि प्राचीन काल में राजाओं के लिए प्रायः प्रयुक्त मिलती है । स्वयं अशोक ने इसे आठवें

शि०लें० के कालसी, शहबाजगढ़ी तथा मानसेहरा संस्करणों में अपने पूर्वगामी राजाओं के लिए अन्य संस्करणों के 'लाजाने' (= राजा लोग) शब्द के स्थान पर प्रयुक्त किया है। 'दीपवंस' (अध्याय ११) में यह अशोक के समकालीन लंका नरेश तिस्स के लिए प्रयुक्त है। लंका के एक अभिलेख में भी यह राजाओं की उपाधि की तरह प्रयुक्त हुई है। 'औपपातिक सूत्र' में इसका अर्द्ध-मागधी बहुवचन रूप 'देवाणुप्पियाणं' मिलता है। इसी ग्रन्थ में कुणिक अजातशत्रु को 'भो देवाणुप्पिया' कहकर सम्बोधित किया गया है। नागार्जुनी-गुहा-लेखों में इसका प्रयोग दशरथ के लिए किया गया है। इन तथ्यों से भाण्डारकर ने निष्कर्ष निकाला है कि यह 'उपाधि' राजाओं तक सीमित थी और इसका प्रयोग यह प्रदर्शित करने के लिए होता था कि वह राजा देवताओं द्वारा रक्षित है। (अशोक, पृ० ८)। बरुआ का कहना है कि इस उपाधि का प्रयोग इसलिए होता था क्योंकि राजा के अभिषेक के समय पुरोहित देवताओं का आह्वान करते थे। इसका अर्थ था यह प्रदर्शित करना कि राजा देवताओं का कृपापात्र और उनके द्वारा रक्षित है। इसलिए बरुआ ने इसका अंग्रेजी अनुवाद His Gifted Majesty किया है। अन्य विद्वान् इसको एक राजकीय उपाधि मानते हुए इसका अनुवाद प्राय: His Sacred and Gracious Majesty करते हैं। लेकिन दशरथ शर्मा (आई० एच० क्यु०, २६, पृ० १४९-५१) इसको एक राजकीय उपाधि मानने को प्रस्तुत नहीं हैं। उनका कहना है कि यह केवल एक आशीर्वचन मात्र था। उनके द्वारा प्रदत्त प्रमाण : (१) 'महाभाष्य' में 'देवानांप्रिय' को भवदादि वर्ग में 'दीर्घायुष्' और 'आयुष्मान्' के बीच में रखा गया है। (२) पाणिनि २.४.५६ पर टीका करते हुए पतञ्जलि ने इसका प्रयोग एक सामान्य वैयाकरण के लिए भी किया है। उसे एक पद में 'आयुष्मान्' कहा गया है और दूसरे में 'देवानांप्रिय'। (३) 'शबरभाष्य' से इसका समर्थन होता है। (४) 'हर्षचरित' में इसका प्रयोग सावित्री के मुख से सरस्वती के होने वाले पति दधीचि के लिए कराया गया है जो न राजा था और न वृद्ध। दशरथ शर्मा के अनुसार इन तथ्यों के प्रकाश में सर्वथा यह मानना चाहिये कि इस विशेषण का प्रयोग सामान्य जनों के लिए भी होता था। लेकिन इसके बावजूद हमें यह मानने में भी कोई आपत्ति नहीं है कि प्राचीन राजा इसको एक उपाधि के रूप में भी प्रयुक्त करते थे। अगर 'देवानांप्रिय' विशेषण का प्रयोग मात्र 'आयुष्मान्' अर्थ में होता तो अशोक अपने पूर्वजों को 'देवानांप्रिय' कह कर उल्लिखित नहीं करता। उस हालत में उसका अपने को 'देवानांप्रिय' कहना भी कुछ विचित्र होता क्योंकि 'आयुष्मान्' अर्थ वाले शब्द केवल बड़ों द्वारा छोटों के लिए प्रयुक्त होते हैं जैसा कि शर्मा जी ने स्वयं साग्रह कहा है। इसलिए हमें यह मानना सही लगता है कि अशोक के अभिलेखों में यह विशेषण एक राजकीय उपाधि के रूप में प्रयुक्त है। 'हर्षचरित' में भी अगर यह दधीचि जैसे व्यक्ति के लिये प्रयुक्त है जो राजा नहीं था तो स्वयं

चक्रवर्ती हर्ष के लिये भी इसका प्रयोग हुआ है। इस तथ्य की ओर शर्मा जी का ध्यान नहीं गया था। इस उपाधि के साथ जुड़ी दूसरी समस्या है परवर्ती युग में इसका प्रयोग 'मूर्ख' अर्थ में होना। इस विषय में 'महाभाष्य' व 'हर्षचरित' के साक्ष्य से यह तो स्पष्ट ही है कि सातवीं शती ई० तक कुछ लोग इसका प्रयोग शुभ अर्थ में भी करते थे। परन्तु सम्भवतः तीसरी शती ई० पू० के ही लेखक कात्यायन ने इसका प्रयोग 'मूर्ख' अर्थ में किया है। पाणिनि के एक सूत्र 'षष्ठ्या आक्रोशे' (६.३.२१) के अनुसार आक्रोश या घृणा प्रकट करते समय षष्ठी विभक्ति का लोप नहीं होता। वह इस नियम का कोई अपवाद नहीं देते। कात्यायन ने अलुक् समास का एक उदाहरण 'देवानांप्रिय' दिया है और लिखा है 'देवानांप्रिय इति च मूर्खे' अर्थात् 'देवानांप्रिय मूर्ख को कहते हैं।' इस नियम का अनुसरण बाद में संस्कृत साहित्य में होता रहा। कैयट ने इसका अर्थ 'मूर्ख' ही माना है। हेमचन्द्र ने 'अभिधान चिन्तामणि' में 'देवानांप्रिय' का प्रयोग मूर्ख अर्थ में किया है। शाहजहाँ कालीन भट्टोजी दीक्षित ने लिखा है 'अन्यत्र देवप्रियः' जिसका अर्थ है कि 'देवानांप्रिय' अलुक् समास है जिसका अर्थ मूर्ख है, अच्छे अर्थ में षष्ठी तत्पुरुष समास 'देवप्रियः' हो जाता है। नागेशदत्त, वासुदेव दीक्षित, रामचन्द्र प्रभृति अन्य मध्यकालीन लेखकों ने 'देवानांप्रिय' को 'मूर्ख' अर्थ में ही लिया है। प्रश्न उत्पन्न होता है कि एक शुभ विशेषण का यह विकृत अर्थ कैसे हो गया। मुखर्जी, रायचौधुरी और रा० ब० पाण्डेय आदि का कहना है कि बौद्ध धर्म के प्रति उदासीनता और अनादर की वृद्धि के साथ देवानांप्रिय के मूल अर्थ में विकृति आई उसी तरह जैसे परवर्ती युगों में 'वुद्ध', से 'वुद्धू' 'नग्न' (= जैन क्षपणक) से नंग अर्थात् बेशर्म और 'लुञ्चक' (= वे साधु जो अपने केश नोचते थे) से 'लुच्चा' शब्द बने। लेकिन बरुआ का कहना है कि भट्टोजी दीक्षित जैसे विद्वानों ने जब 'देवानांप्रिय' का अर्थ मूर्ख माना होगा उस समय वे शायद इस बात से परिचित भी नहीं रहे होंगे कि अशोक ने यह उपाधि धारण की थी। उन्होंने इसका अर्थ 'मूर्ख' इसलिए किया क्योंकि पाणिनि के उपर्युक्त सूत्र के अनुसार ऐसा मानना अनिवार्य था। सम्भवतः ये दोनों ही मत सही हैं। प्राचीन ब्राह्मण लेखकों को एक तरफ पाणिनि के सूत्र के अनुसार 'देवानांप्रिय' को मूर्ख अर्थ में लेना आवश्यक लगा होगा तो दूसरी तरफ अशोक की नीति के कारण मौर्यों के प्रति उनके समाज में जो आक्रोश उत्पन्न हुआ उसके कारण उसकी उपाधि का अर्थ विकृत कर देने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं हुई होगी। इस प्रसंग में 'मार्कण्डेय पुराण' में मौर्यों की असुरों में गणना किया जाना उल्लेखनीय है। 'गार्गी संहिता' में शालिशूक के लिए कहा गया है, 'स्थापयिष्यति मोहात्मा विजयं नाम धार्मिकम्'। जायसवाल ने (जे० बी० ओ० आर० एस०, ४, पृ. २६१) इसका अनुवाद किया है : 'वह मोहात्मा (= मूर्ख) धर्मविजय की स्थापना करेगा'। स्पष्टतः यह मौर्यों की 'धम्म विजय' पर एक ब्राह्मण लेखक का व्यङ्ग है। इस दोनों उदाहरणों से ब्राह्मण लेखकों का

अशोक के प्रति दृष्टिकोण स्पष्ट होता है। अतः हमारे विचार से यह तर्क कि भट्टोजी दीक्षित जैसे परवर्ती लेखक अशोक से परिचित नहीं थे, इस प्रसंग में निस्सार है।

३. **प्रियदसि** अथवा **पियदसि** = प्रियदर्शी। इसका पर्याय 'पियदस्सन' = प्रियदर्शन है। 'दीपवंश' में दोनों अशोक के लिए बिना कोई भेद किये प्रयुक्त हुए हैं। 'प्रियदर्शिका' नामक नाटक में नायिका को 'प्रियदर्शिका' और 'प्रियदर्शना' दोनों कहा गया है। 'प्रियदर्शी' प्राचीन काल में अनुराग प्रकट करने वाला विशेषण था। 'रामायण' में एक स्थल पर राम को 'सोमवत् प्रियदर्शनः' कहा गया है। 'मुद्राराक्षस' में इसका प्रयोग चन्द्रगुप्त मौर्य के लिए हुआ है तथा पुलुमावि के नासिक-अभिलेख में गौतमीपुत्र शातकर्णि को 'चद मडल ससिरीक पियदसनस' कहा गया है। अशोक सम्भवतः कुरूप था, राजा होने के कारण 'पियदसि' कहलाने लगा। उसके अभिलेखों में यह उसके दूसरे नाम की तरह प्रयुक्त हुआ है। प्रमाण—एक, उसके बराबर-गुहा-लेख में 'लाजिना पियदसिना' का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि 'अशोक' के समान 'प्रियदसि' उसका व्यक्तिगत नाम था। दूसरे, जहाँ-जहाँ अभिलेखों में 'अशोक' नाम का प्रयोग है (मास्की व गुजर्रा लघु शिलालेख एवं रुद्रदामा का जूनागढ़-लेख) वहाँ-वहाँ 'प्रियदसि' अप्रयुक्त है। तीसरे, पियदसि जैसे नाम पालि साहित्य में (द्र० बुद्धवंश) अनेक भूतपूर्व बुद्धों के मिलते हैं, यथाः अत्थदसि, धम्मदसि, सब्बदसि, तथा अनोमदसि। चौथे, बुद्घोष ने लिखा है कि मौर्य राजकुमार पियदासो (= पियदस्सी) ने अपने अभिषेक के समय अशोक नाम धारण किया। इस विषय में 'दीपवंश' में इससे उल्टी सूचना मिलती है। इसके अनुसार महेन्द्र की आयु के १४ वें वर्ष अशोक का अभिषेक हुआ और बीसवें वर्ष पियदसी का। यह कथन तभी बोधगम्य हो सकता है जब हम अशोक का दूसरा नाम पियदसी मानें। परन्तु तब यह मानना भी अनिवार्य हो जाता है कि अशोक का मूल नाम अशोक था। द्वितीय नाम पियदसी, जबकि बुद्धघोष उसका मूल नाम पियदस्सी बताता है और द्वितीय नाम अशोक।

४. **लेखापिता** = लिखवाई। लेकिन यहाँ यह स्पष्ट नहीं है कि अशोक का आशय 'प्रारूप को तैयार करवाने' से है अथवा 'उत्कीर्ण करवाने' से। 'लिख्' का अर्थ 'उत्कीर्ण कराना' व 'लिखना' दोनों होता है। इस लेख के धौलि और जौगड़ संस्करणों में 'लेखापिता' के पूर्व 'पवतसि' शब्द आता है। इसलिए वहाँ 'लेखापिता' का अर्थ 'उत्कीर्ण कराया' करना अनिवार्य है। अन्यत्र भी यह अर्थ सम्भव है।

५. **इध** = यहाँ। इसके तीन आशय सम्भव हैं : एक 'उस प्रदेश विशेष में जहाँ लेख उत्कीर्ण कराया गया'; दो, 'राजधानी में जहाँ के लिए वह लेख विशेषतः लिखवाया गया हो' तथा तीसरा, 'साम्राज्य में'। यहाँ प्रथम अर्थ सही लगता है। पाँचवें शिलालेख के गिरनार संस्करण में 'पाटलिपुत्र में (और) बाहर के सब नगरों में' वाक्यांश आता है। अन्य संस्करणों में पाटलिपुत्र के स्थान पर 'इध' पाठ

चक्रवर्ती हर्ष के लिये भी इसका प्रयोग हुआ है। इस तथ्य की ओर शर्मा जी का ध्यान नहीं गया था। इस उपाधि के साथ जुड़ी दूसरी समस्या है परवर्ती युग में इसका प्रयोग 'मूर्ख' अर्थ में होना। इस विषय में 'महाभाष्य' व 'हर्षचरित' के साक्ष्य से यह तो स्पष्ट ही है कि सातवीं शती ई० तक कुछ लोग इसका प्रयोग शुभ अर्थ में भी करते थे। परन्तु सम्भवतः तीसरी शती ई० पू० के ही लेखक कात्यायन ने इसका प्रयोग 'मूर्ख' अर्थ में किया है। पाणिनि के एक सूत्र 'षष्ठ्या आक्रोशे' (६.३.२१) के अनुसार आक्रोश या घृणा प्रकट करते समय षष्ठी विभक्ति का लोप नहीं होता। वह इस नियम का कोई अपवाद नहीं देते। कात्यायन ने अलुक् समास का एक उदाहरण 'देवानांप्रिय' दिया है और लिखा है 'देवानांप्रिय इति च मूर्खे' अर्थात् 'देवानांप्रिय मूर्ख को कहते हैं।' इस नियम का अनुसरण बाद में संस्कृत साहित्य में होता रहा। कैयट ने इसका अर्थ 'मूर्ख' ही माना है। हेमचन्द्र ने 'अभिधान चिन्तामणि' में 'देवानांप्रिय' का प्रयोग मूर्ख अर्थ में किया है। शाहजहाँ कालीन भट्टोजी दीक्षित ने लिखा है 'अन्यत्र देवप्रियः' जिसका अर्थ है कि 'देवानांप्रिय' अलुक् समास है जिसका अर्थ मूर्ख है, अच्छे अर्थ में षष्ठी तत्पुरुष समास 'देवप्रियः' हो जाता है। नागेशदत्त, वासुदेव दीक्षित, रामचन्द्र प्रभृति अन्य मध्यकालीन लेखकों ने 'देवानांप्रिय' को 'मूर्ख' अर्थ में ही लिया है। प्रश्न उत्पन्न होता है कि एक शुभ विशेषण का यह विकृत अर्थ कैसे हो गया। मुखर्जी, रायचौधुरी और रा० ब० पाण्डेय आदि का कहना है कि बौद्ध धर्म के प्रति उदासीनता और अनादर की वृद्धि के साथ देवानांप्रिय के मूल अर्थ में विकृति आई उसी तरह जैसे परवर्ती युगों में 'बुद्ध', से 'बुद्धू' 'नग्न' (= जैन क्षपणक) से नंग अर्थात् बेशर्म और 'लुञ्चक' (= वे साधु जो अपने केश नोचते थे) से 'लुच्चा' शब्द बने। लेकिन बरुआ का कहना है कि भट्टोजी दीक्षित जैसे विद्वानों ने जब 'देवानांप्रिय' का अर्थ मूर्ख माना होगा उस समय वे शायद इस बात से परिचित भी नहीं रहे होंगे कि अशोक ने यह उपाधि धारण की थी। उन्होंने इसका अर्थ 'मूर्ख' इसलिए किया क्योंकि पाणिनि के उपर्युक्त सूत्र के अनुसार ऐसा मानना अनिवार्य था। सम्भवतः ये दोनों ही मत सही हैं। प्राचीन ब्राह्मण लेखकों को एक तरफ पाणिनि के सूत्र के अनुसार 'देवानांप्रिय' को मूर्ख अर्थ में लेना आवश्यक लगा होगा तो दूसरी तरफ अशोक की नीति के कारण मौर्यों के प्रति उनके समाज में जो आक्रोश उत्पन्न हुआ उसके कारण उसकी उपाधि का अर्थ विकृत कर देने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं हुई होगी। इस प्रसंग में 'मार्कण्डेय पुराण' में मौर्यों की असुरों में गणना किया जाना उल्लेखनीय है। 'गार्गी संहिता' में शालिशूक के लिए कहा गया है, 'स्थापयिष्यति मोहात्मा विजयं नाम धार्मिकम्'। जायसवाल ने (जे० बी० ओ० आर० एस०, ४, पृ. २६१) इसका अनुवाद किया है : 'वह मोहात्मा (=मूर्ख) धर्मविजय की स्थापना करेगा'। स्पष्टतः यह मौर्यों की 'धम्म विजय' पर एक ब्राह्मण लेखक का व्यङ्ग है। इस दोनों उदाहरणों से ब्राह्मण लेखकों का

अशोक के प्रति दृष्टिकोण स्पष्ट होता है। अतः हमारे विचार से यह तर्क कि भट्टोजी दीक्षित जैसे परवर्ती लेखक अशोक से परिचित नहीं थे, इस प्रसंग में निस्सार है।

३. **प्रियदसि** अथवा **पियदसि** = प्रियदर्शी। इसका पर्याय 'पियदस्सन' = प्रियदर्शन है। 'दीपवंश' में दोनों अशोक के लिए बिना कोई भेद किये प्रयुक्त हुए हैं। 'प्रियदर्शिका' नामक नाटक में नायिका को 'प्रियदर्शिका' और 'प्रियदर्शना' दोनों कहा गया है। 'प्रियदर्शी' प्राचीन काल में अनुराग प्रकट करने वाला विशेषण था। 'रामायण' में एक स्थल पर राम को 'सोमवत् प्रियदर्शनः' कहा गया है। 'मुद्राराक्षस' में इसका प्रयोग चन्द्रगुप्त मौर्य के लिए हुआ है तथा पुलुमावि के नासिक-अभिलेख में गौतमीपुत्र शातकर्णि को 'चद मडल ससिरीक पियदसनस' कहा गया है। अशोक सम्भवतः कुरूप था, राजा होने के कारण 'पियदसि' कहलाने लगा। उसके अभिलेखों में यह उसके दूसरे नाम की तरह प्रयुक्त हुआ है। प्रमाण—एक, उसके बराबर-गुहा-लेख में 'लाजिना पियदसिना' का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि 'अशोक' के समान 'प्रियदसि' उसका व्यक्तिगत नाम था। दूसरे, जहाँ-जहाँ अभिलेखों में 'अशोक' नाम का प्रयोग है (मास्की व गुजर्रा लघु शिलालेख एवं रुद्रदामा का जूनागढ़-लेख) वहाँ-वहाँ 'प्रियदसि' अप्रयुक्त है। तीसरे, पियदसि जैसे नाम पालि साहित्य में (द्र० बुद्धवंश) अनेक भूतपूर्व बुद्धों के मिलते हैं, यथाः अत्थदसि, धम्मदसि, सब्बदसि, तथा अनोमदसि। चौथे, बुद्घोष ने लिखा है कि मौर्य राजकुमार पियदासो (= पियदस्सी) ने अपने अभिषेक के समय अशोक नाम धारण किया। इस विषय में 'दीपवंश' में इससे उल्टी सूचना मिलती है। इसके अनुसार महेन्द्र की आयु के १४ वें वर्ष अशोक का अभिषेक हुआ और बीसवें वर्ष पियदसी का। यह कथन तभी बोधगम्य हो सकता है जब हम अशोक का दूसरा नाम पियदसी मानें। परन्तु तब यह मानना भी अनिवार्य हो जाता है कि अशोक का मूल नाम अशोक था। द्वितीय नाम पियदसी, जबकि बुद्धघोष उसका मूल नाम पियदस्सी बताता है और द्वितीय नाम अशोक।

४. **लेखापिता** = लिखवाई। लेकिन यहाँ यह स्पष्ट नहीं है कि अशोक का आशय 'प्रारूप को तैयार करवाने' से है अथवा 'उत्कीर्ण करवाने' से। 'लिख्' का अर्थ 'उत्कीर्ण कराना' व 'लिखना' दोनों होता है। इस लेख के धौलि और जौगड़ संस्करणों में 'लेखापिता' के पूर्व 'पवतसि' शब्द आता है। इसलिए वहाँ 'लेखापिता' का अर्थ 'उत्कीर्ण कराया' करना अनिवार्य है। अन्यत्र भी यह अर्थ सम्भव है।

५. **इध** = यहाँ। इसके तीन आशय सम्भव हैं: एक 'उस प्रदेश विशेष में जहाँ लेख उत्कीर्ण कराया गया'; दो, 'राजधानी में जहाँ के लिए वह लेख विशेषतः लिखवाया गया हो' तथा तीसरा, 'साम्राज्य में'। यहाँ प्रथम अर्थ सही लगता है। पाँचवें शिलालेख के गिरनार संस्करण में 'पाटलिपुत्र में (और) बाहर के सब नगरों में' वाक्यांश आता है। अन्य संस्करणों में पाटलिपुत्र के स्थान पर 'इध' पाठ

द्वितीय शिलालेख

(गिरनार संस्करण)

मूलपाठ

१. सर्वत विजितम्हि देवानंप्रियस पियदसिनो राञो
२. एवमपि प्रचंतेषु यथा चोडा पाडा सतियपुतो केतलपुतो आ तंब
३. पंणी अंतियको योनराजा ये वा पि तस अंतियकस सामीपं
४. राजानो सर्वत्र देवानंप्रियस प्रियदसिनो राञो द्वे चिकीछा कता
५. मनुसचिकीछा च पसुचिकीछा च [।] ओसुढानि च यानि मनुसोपगानि च
६. पसोपगानि च यत यत नास्ति सर्वत हारापितानि च रोपापितानि च [।]
७. मलानि च फलानि च यत यत्र नास्ति सर्वत हारापितानि च रोपापितानि च [।]
८. पंथेसू कूपा च खानापिता व्रछा च रोपापिता परिभोगाय पसुमनुसानं [॥]

पाठ-टिप्पणी—'केतलपुतो' को 'केरलपुतो' पढ़ें। इस लेख के कालसी संस्करण में 'केललपुतो' पाठ है, शाहबाजगढ़ी संस्करण में 'केरडपुत्रो' तथा मानसेहरा संस्करण में 'केरलपुत्र'। तीसरी पंक्ति के अन्तिम शब्द 'सामीपं' को ब्युलर तथा हूल्त्ज ने 'सामन्ता' का अशुद्ध पाठ माना है। अन्य संस्करणों में 'सामंता' या 'समंत' पाठ ही है। उसके पूर्व का शब्द ब्युलर ने 'अंतियोकस' पढ़ा है। उन्होंने छठीं पंक्ति के 'सर्वत' का पाठ 'सर्वत्र' माना है, ७वीं पंक्ति के 'यत्' का 'यत्र' एवं 'सर्वत' का 'सर्वत्र'।

शब्दार्थ

सर्वत = सर्वत्र ; **विजितम्हि** = राज्य में ; **एवमपि** = इसी प्रकार ; **प्रचंतेसु** = प्रत्यन्त राज्यों में, पड़ोसी राज्यों में ; **आ तंबपंणी** = ताम्रपर्णी (सिंहल) तक ; **ये वा पि** = अथवा ये भी जो ; **चिकीछा** = चिकित्साएँ ; **कता** = कृते ; **ओसुढानि**=औषधानि, **मनुसोपगानि** = मनुष्योपयोगी ; **हारापितानि**=लाई गई हैं ; **रोपापितानि**=रोपी गई हैं ; **पथेसू** = मार्गो में ; **खानापिता** = खोदे गए हैं ; **व्रछा**=वृक्ष ; **परिभोगाय**=भोग के हेतु ।

अनुवाद

देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा के राज्य में सर्वत्र (और) इसी प्रकार प्रत्यन्त (राज्यों) में यथा चोलों (और) पांड्यों (के प्रदेश में) (एवं) सत्यपुत्र, केरलपुत्र (तथा) ताम्रपर्णी तक, यवन राज अन्तियोक (के राज्य) में अथवा उन राजाओं के (राज्यों में) भी जो अन्तियोक (के राज्य) के समीप हैं, सर्वत्र देवानांप्रिय प्रियदर्शी की दो चिकित्साएँ व्यवस्थित हैं—मानव चिकित्सा और पशु-चिकित्सा । और औषधियाँ जो मानवोपयोगी और पशुपयोगी (हैं) जहाँ-जहाँ नहीं हैं सर्वत्र लायी गई हैं और रोपी गई हैं । और मूल तथा फल जो जहाँ-जहाँ नहीं हैं सर्वत्र लाए गए हैं और रोपे गए हैं। पशुओं और मनुष्यों के उपभोग के हेतु मार्गो में कुएँ खोदे गए हैं और वृक्ष लगाये गए हैं ।

व्याख्या

१. **सर्वत विजितम्हि** = सारे राज्य में। तु० हाथिगुम्फा-अभिलेख का पद 'विजय चके' (= विजय चक्रे) और परवर्ती अभिलेखों का 'विजयराज्ये' । सम्भवतः भारतीय नरेश सिद्धान्ततः यह मानते थे कि उनका राज्य उन्हें विजय प्राप्त करने के कारण मिला था। चौदहवें शिलालेख में अशोक के राज्य को बहुत विशाल (महालके हि विजिते) कहा गया है। यहां 'सर्वत' शब्द का भाव यह है कि उपर्युक्त लोकोपकारी कार्य उसने केवल अपने प्रत्यक्षतः शासित प्रदेशों में ही नहीं वरन् अर्द्ध-स्वतन्त्र प्रदेशों में भी करवाये ।

२. **प्रचंतेसु** = प्रत्यन्तों में । 'प्रचंत' राज्य दो प्रकार के थे—सुदूर दक्षिण के चोल और पाण्ड्यादि राज्य और उत्तर-पश्चिम के यवन राज्य । 'पचंत' अर्थ में ही 'अंत' शब्द का भी प्रयोग हुआ है (मानसेहरा शिला) । १३ वें शि० ले० से ज्ञात होता है कि 'अंता' साम्राज्य के बाहर के सीमावर्ती प्रदेश थे (अंता अविजिता) । इस शिलालेख में भी 'प्रचंतो' को 'सर्वत विजित' अर्थात् साम्राज्य के बाहर बताया गया है। परन्तु साहित्य में और परवर्ती अभिलेखों में 'प्रत्यन्त' को किसी साम्राज्य के अन्तर्गत वे प्रदेश जो उसकी सीमा पर हों, माना गया है। दे० समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति ।

३. **चोडा पाडा सतियपुत केतलपुतो आतंबपंणी**—इनमें प्रथम दो नाम बहु-वचन में हैं अतः जातिवाचक हैं और उन जातियों के प्रदेश के लिए प्रयुक्त हैं।

द्वितीय शिलालेख

(गिरनार संस्करण)

मूलपाठ

१. सर्वत विजितम्हि देवानंप्रियस पियदसिनो राञो
२. एवमपि प्रचंतेषु यथा चोडा पाडा सतियपुतो केतलपुतो आ तंब
३. पंणी अंतियको योनराजा ये वा पि तस अंतियकस सामीपं
४. राजानो सर्वत्र देवानंप्रियस प्रियदसिनो राञो द्वे चिकीछा कता
५. मनुसचिकीछा च पसुचिकीछा च [।] ओसुढानि च यानि मनुसोपगानि च
६. पसोपगानि च यत यत नास्ति सर्वत हारापितानि च रोपापितानि च [।]
७. मलानि च फलानि च यत यत्र नास्ति सर्वत हारापितानि च रोपापितानि च [।]
८. पंथेसू कूपा च खानापिता व्रछा च रोपापिता परिभोगाय पसुमनुसानं [।।]

पाठ-टिप्पणी—'केतलपुतो' को 'केरलपुतो' पढ़ें। इस लेख के कालसी संस्करण में 'केललपुतो' पाठ है, शाहबाजगढ़ी संस्करण में 'केरडपुत्रो' तथा मानसेहरा संस्करण में 'केरलपुत्र'। तीसरी पंक्ति के अन्तिम शब्द 'सामीपं' को ब्युलर तथा हूल्त्ज ने 'सामन्ता' का अशुद्ध पाठ माना है। अन्य संस्करणों में 'सामंता' या 'समंत' पाठ ही है। उसके पूर्व का शब्द ब्युलर ने 'अंतियोकस' पढ़ा है। उन्होंने छठीं पंक्ति के 'सर्वत' का पाठ 'सर्वत्र' माना है, ७वीं पंक्ति के 'यत्' का 'यत्र' एवं 'सर्वत' का 'सर्वत्र'।

४. **अंतियोको योनराजा**—योन = यवन। 'यवन' और 'योन' शब्द 'आयोनियन' से व्युत्पन्न हैं। भारतीयों का इस नाम से परिचय ईरानियों के माध्यम से हुआ। अशोककालीन यूनानी मूलतः आयोनियावासी होने के कारण भारत में 'आयोनियन' = यवन = योन कहलाए। **अंतियोक** = द्वितीय एण्टियोकस थियोस, सीरिया का राजा। उसका और उसके पड़ोसी अन्य यूनानी राजाओं का उल्लेख १३ वें शिलालेख में हुआ है।

५. **द्वेचिकीछकता**—ब्युलर ने 'चिकीछ' का अर्थ 'अस्पताल' किया है और भाण्डारकर ने 'डिस्पेन्सरी'। मुकर्जी का मत है कि अशोक ने मनुष्यों और पशुओं के लिए चिकित्सकों, दवाओं और अस्पतालों तीनों की व्यवस्था की थी और औषधोद्यान लगवाए थे। परन्तु बरुआ का कहना है कि अशोक ने केवल औषधियों की व्यवस्था की थी, अस्पतालों की नहीं। सप्तम स्तम्भ लेख में वह विश्रामागारों, आपानों, आम्रवाटिकाओं का उल्लेख करता है और 'रानी के लेख' में आरामों और दानशालाओं का, परन्तु इनमें कहीं भी अस्पतालों को स्थापित करने का दावा नहीं किया गया है।

६. अशोक ने मार्गों में वृक्ष लगवाए व कुएँ खुदवाए। इनको ब्राह्मण ग्रन्थों में इष्टापूर्त्त या पूतकर्म कहा गया है। ऐसे वृक्षों को मार्गस्तरु अथवा मार्गद्रुम कहा गया है। 'वराह पुराण' के अनुसार ये वृक्ष ऐसे होने चाहिए जो पथिकों को छाया दें तथा पक्षियों का विश्राम स्थल बन सकें। सप्तम शिलालेख में उल्लिखित निग्रोध = निग्रोध ऐसा ही वृक्ष है। उसे 'छायाश्रेष्ठः वटः' कहा गया है। 'उदपान' से तात्पर्य यहाँ कुएँ के साथ-साथ सरोवर आदि से भी हो सकता है।

७. इस लेख में उल्लिखित 'पशु' शब्द मानवोपयोगी और पालतू पशुओं का द्योतक है।

शेष नाम एकवचन में हैं। भाण्डारकर ने इन्हें राजाओं के नाम माना था, परन्तु प्रस्तुत शिलालेख के मानसेहरा संस्करण में केतलपुतो और सतियपुतो तथा १३वें शिलालेख में तांबपंणि नाम भी बहुवचन में आए हैं (बरुआ, पूर्वो० पृ० २३०)। बहुत से विद्वान् इन राज्यों की भौगोलिक स्थिति उस क्रम से होनी अनिवार्य समझते हैं जिस क्रम से उनका उल्लेख अभिलेखों में हुआ है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है। **चोड** = चोल जनपद। कावेरी द्वारा सिञ्चित प्रदेश। प्राचीन राजधानी काञ्ची एवं बन्दरगाह् कावेरीपट्टन। यह एक द्रविड़ रट्ट = 'द्रविड़ जनपद' था। अशोक द्वारा चोलों का उल्लेख बहुवचन में होने से बरुआ ने अनुमान लगाया है कि उस समय उनकी शासन व्यवस्था गणतांत्रिक थी। परन्तु यह सम्भव होते हुए भी अनिवार्य नहीं है। प्राचीन भारत में प्रदेशों का उल्लेख बहुवचन में करने की परम्परा थी। (दे०, रुद्रदामा की जूनागढ-प्रशस्ति)। **पाडा** = पाण्ड्य जन। कात्यायन ने 'पाण्ड्य' शब्द की व्युत्पत्ति पाण्डु से मानी है। सिंहली इतिहास-ग्रन्थों में पाण्ड्यों को पाण्डु ही कहा गया है। उनकी राजधानी मदुरा थी। हाथिगुम्फा-अभिलेख में खारवेल 'पंड राजा' से मणिमुक्ता प्राप्त करने का उल्लेख करता है। उनका राज्य (रामनाद, मदुरा तथा तिन्नवेल्ली जिले) चोल और सतियपुत तथा केरलपुत राज्यों के बीच में था। लेकिन **सतियपुत** की सही स्थिति निश्चित नहीं है। इसका एकवचन रूप किसी प्रदेश का नाम भी हो सकता है (यथा केसपुत, पाटलिपुत आदि) और एक राजा का भी जिसका राज्य उसके नाम से विख्यात रहा हो। केरल के सभी पुराने राजा चेरमान् (चेर = केरल, मान् = पुत्र) कहलाते थे। बहुवचन में पुत्रान्त नाम प्रदेश या जातिवाचक नाम भी होते थे यथा वनपुत्र, राजपुत्र (= राजपूत), भोजपुत्र, शिविपुत्र आदि। कुछ विद्वानों ने सतियपुत की पहिचान काञ्ची से की है जो 'सत्यव्रत क्षेत्र' नाम से भी प्रसिद्ध रहा था, कुछ ने कोयम्बटूर के सत्यमंगलम् ताल्लुके (तुलुव क्षेत्र) से, कुछ ने उत्तरी मालाबार के सत्यभूमि प्रदेश से, कुछ ने कांगनाडु की कोसर जाति से जो अपनी सत्यवादिता के लिए प्रसिद्ध थी, ब्युलर ने 'ऐतरेय ब्राह्मण' में उल्लिखित सात्वतों से, एम० जी० पाई ने 'मार्कण्डेय पुराण' के शान्तिक से, किर्फेल ने 'महाभारत' के सतीय से तथा कर्न ने सतपुड़ा पर्वत से। हमें सब से सही मत डी० आर० भाण्डारकर का लगता है जिन्होंने इसकी पहिचान मराठों में प्रचलित 'सातपुते' वंशनाम से की है। हो सकता है उनकी कोई शाखा प्राचीन काल में पाण्ड्य राज्य के पश्चिम में बसी रही हो। **केरलपुत** = केरल = मालाबार का समुद्रतटीय प्रदेश। हूल्त्ज़ तथा भाण्डारकार केरलपुत्र से केरल का राजा आशय ग्रहण करते हैं। **तंबपंणी** = ताम्रपर्णी श्रीलंका = सिंहल। मेगास्थने (मेगस्थनिज़) ने इसका उल्लेख 'ताम्रोबर्न' नाम से किया है। 'रामायण' में यह एक नदी का नाम है जो तिन्नेवेली जिले में बहती है। स्मिथ ने अशोक के अभिलेख में ताम्रपर्णी नदी का ही उल्लेख माना था। लेकिन बौद्ध साहित्य में अशोक द्वारा सिंहल में धर्म प्रचारक भेजने का उल्लेख है।

४. **अंतियोको योनराजा**—योन = यवन। 'यवन' और 'योन' शब्द 'आयोनियन' से व्युत्पन्न हैं। भारतीयों का इस नाम से परिचय ईरानियों के माध्यम से हुआ। अशोककालीन यूनानी मूलतः आयोनियावासी होने के कारण भारत में 'आयोनियन' = यवन = योन कहलाए। **अंतियोक** = द्वितीय एण्टियोकस थियोस, सीरिया का राजा। उसका और उसके पड़ोसी अन्य यूनानी राजाओं का उल्लेख १ वें शिलालेख में हुआ है।

५. **द्वेचिकीछकता**—ब्युलर ने 'चिकीछ' का अर्थ 'अस्पताल' किया है और भाण्डारकर ने 'डिस्पेन्सरी'। मुकर्जी का मत है कि अशोक ने मनुष्यों और पशुओं के लिए चिकित्सकों, दवाओं और अस्पतालों तीनों की व्यवस्था की थी और औषधोद्यान लगवाए थे। परन्तु बरुआ का कहना है कि अशोक ने केवल औषधियों की व्यवस्था की थी, अस्पतालों की नहीं। सप्तम स्तम्भ लेख में वह विश्रामागारों, आपानों, आम्रवाटिकाओं का उल्लेख करता है और 'रानी के लेख' में आरामों और दानशालाओं का, परन्तु इनमें कहीं भी अस्पतालों को स्थापित करने का दावा नहीं किया गया है।

६. अशोक ने मार्गों में वृक्ष लगवाए व कुएँ खुदवाए। इनको ब्राह्मण ग्रन्थों में इष्टापूर्त्त या पूतकर्म कहा गया हैं। ऐसे वृक्षों को मार्गस्तरु अथवा मार्गद्रुम कहा गया है। 'वराह पुराण' के अनुसार ये वृक्ष ऐसे होने चाहिए जो पथिकों को छाया दें तथा पक्षियों का विश्राम स्थल बन सकें। सप्तम शिलालेख में उल्लिखित निग्रोध = निग्रोध ऐसा ही वृक्ष है। उसे 'छायाश्रेष्ठः वटः' कहा गया है। 'उदपान' से तात्पर्य यहाँ कुएँ के साथ-साथ सरोवर आदि से भी हो सकता है।

७. इस लेख में उल्लिखित 'पशु' शब्द मानवोपयोगी और पालतू पशुओं का द्योतक है।

तृतीय शिलालेख

(गिरनार संस्करण)

मूलपाठ

१. देवानंपियो पियदसि राजा एवं आह [।] द्वादसवासाभिसितेन मया इदं आञपितं [।]

२. सर्वत विजिते मम युता च राजूके च प्रादेसिके च पचसु पंचसु वासेसु अनुसं

३. यानं नियातु एतायेव अथाय इमाय धमानुसस्टिय यथा अञा

४. य पि कंमाय [।] साधु मातरि च पितरि च सुस्रूसा मित्रसंस्तुत ञातीनं बाम्हण

५. समणानं साधु दानं प्राणानं साधु अनारंभो अपव्ययता अपभांडता साधु [।]

६. परिसा पि युते आञपयिसति गणनायं हेतुतो च व्यंजनतो च [।।]

चतुर्थ शिलालेख

(गिरनार संस्करण)

मूलपाठ

१. अतिकातं अंतरं बहूनि वाससतानि वढितो एव प्राणारंभो विहिंसा च भूतानं ञातीसु

२. असंप्रतिपती ब्राम्हणस्रमणानं असंप्रतीपती [।] त अज देवानंप्रियस प्रियदसिनो राञो

३. धंमचरणेन भेरीघोसो अहो धंमघोसो विमानदर्सणा च हस्तिदसणा च

४. अगिखंधानि च अञानि च दिव्यानि रूपानि दसयित्पा जनं [।] यारिसे बहूहि वाससतेहि

५. न भूतपुवे तारिसे अज वढिते देवानंप्रियस प्रियदसिनो राञो धंमानुसस्टिया अनारं

६. भो प्राणानं अविहीसा भूतानं ञातीनं संपटिपती ब्रम्हणसमणानं संपटिपती मातरि पितरि

७. सुस्रुसा थैरसुस्रुसा [।] एस अञे च बहुविधे धंमचरणे वढिते [।] वढयिसति चेव देवानंप्रियो

८. प्रियदसि राजा धंमचरणं इदं [।] पुत्रा च पोत्रा च प्रपोत्रा च देवानंप्रियस प्रियदसिनो राञो

९. प्रवधयिसंति इदं धंमचरणं आव सवटकपा धंमम्हि सीलम्हि तिस्टंतो धंमं अनुसासिसंति [।]

१०. एस हि सेस्टे कंमे य धंमानुसासनं [।] धंमचरणे पि न भवति असीलस [।] त इमम्हि अथम्हि

११. वधी च अहीनी च साधु [।] एताय अथाय इदं लेखापितं इमस अथस वधि युजंतु हीनि च

१२. नो लोचेतव्या [।] द्वादसवासाभिसितेन देवानंप्रियेन प्रियदसिना राञा इदं लेखापितं [॥]

तृतीय शिलालेख

(गिरनार संस्करण)

मूलपाठ

१. देवानंपियो पियदसि राजा एवं आह [।] द्वादसवासाभिसितेन मया इदं आञपितं [।]
२. सर्वत विजिते मम युता च राजूके च प्रादेसिके च पचसु पंचसु वासेसु अनुसं
३. यानं नियातु एतायेव अथाय इमाय धमानुसस्टिय यथा अञा
४. य पि कंमाय [।] साधु मातरि च पितरि च सुस्रूसा मित्रसंस्तुत ञातीनं बाम्हण
५. समणानं साधु दानं प्राणानं साधु अनारंभो अपव्ययता अपभांडता साधु [।]
६. परिसा पि युते आञपयिसति गणनायं हेतुतो च व्यंजनतो च [।।]

चतुर्थ शिलालेख

(गिरनार संस्करण)

मूलपाठ

१. अतिकातं अंतरं बहूनि वाससतानि वढितो एव प्राणारंभो विहिंसा च भूतानं ञातीसु

२ असंप्रतिपती ब्राम्हणस्रमणानं असंप्रतीपती [।] त अज देवानंप्रियस प्रियदसिनो राञो

३. धंमचरणेन भेरीघोसो अहो धंमघोसो विमानदर्सणा च हस्तिदसणा च

४. अगिखंधानि च अञानि च दिव्यानि रूपानि दसयित्पा जनं [।] यारिसे बहूहि वाससतेहि

५. न भूतपुवे तारिसे अज वढिते देवानंप्रियस प्रियदसिनो राञो धंमानु-सस्टिया अनारं

६. भो प्राणानं अविहीसा भूतानं ञातीनं संपटिपती ब्रम्हणसमणानं संपटिपती मातरि पितरि

७. सुस्रुसा थैरसुस्रुसा [।] एस अञे च बहुविधे धंमचरणे वढिते [।] वढयिसति चेव देवानंप्रियो

८. प्रियदसि राजा धंमचरणं इदं [।] पुत्रा च पोत्रा च प्रपोत्रा च देवानं-प्रियस प्रियदसिनो राञो

९. प्रवधयिसंति इदं धंमचरणं आव सवटकपा धंमम्हि सीलम्हि तिस्टंतो धंमं अनुसासिसंति [।]

१०. एस हि सेस्टे कंमे य धंमानुसासनं [।] धंमचरणे पि न भवति असीलस [।] त इमम्हि अथम्हि

११. वधी च अहीनी च साधु [।] एताय अथाय इदं लेखापितं इमस अथस वधि युजंतु हीनि च

१२. नो लोचेतव्या [।] द्वादसवासाभिसितेन देवानंप्रियेन प्रियदसिना राञा इदं लेखापितं [॥]

पञ्चम शिलालेख

(कालसी संस्करण)

मूलपाठ

१. देवानंपिये पियदसि लाजा अहा [।] कयाने दुकले । ए आदिकले कयानसा से दुकलं कलेति [।] से ममया बहु कयाने कटे [।] ता ममा पुता चा नताले चा

२. पल चो तेहि ये अपतिये मे आवकपं तथा अनुवटिसंति से सुकटं कछंति । एचु हेतो देसं पि हापयिसंति से दुकटं कछति । पापे हि नामा सुपदालये [।] से अतिकंत अंतलं नो हुतपुलव धंममहामता नामा [।] तेदसवसाभिसितेना ममया धंममहामाता कटा [।] ते सवपासंसु वियापटा ।

३. धंमाधिथानाये चा धंमवढिया हिदसुखाये वा धंमयुतसा योनकंबोजगंधालानं........ए वापि अंने अपलंता । भटमयेसु बंभनिभेसु अनथेसु बुधेसु हिदसुखाये धंमयुताये अपलिबोधाये वियपटा ते [।]
बंधनवधसा पटिविधानाये अपलिबोधाए मोखाये चा एयं अनुवधा पजा व ति वा ।

४. कटाभिकाले ति वा महालके ति वा वियापटा ते [।] हिदा बाहिलेसु चा नगलेसु सवेसु ओलोघनेसु भातिनं च ने भगिनिना एवा पि अंने नातिक्ये सवता वियापटा । ए इयं धंमनिसिते ति वा दान सुयुते ति वा सवता विजितसि समा धंमयुतसि वियापटा ते धंम महामाता । एताये अठाये ।

५. इयं धंमलिपि लेखिता चिलथितिक्या होतु तथा च मे पजा अनुवततु ।

पाठ-टिप्पणी—पाँचवाँ शि० ले० चौथे शि० ले० के अनन्तर लिखा है। बरुआ ने प्रथम पंक्ति में 'कयानसा' को 'कयानस' पढ़ा है, दूसरी में 'पल चो' को 'पलं चा' तथा 'हुतपुलव' को 'हुतपुलुवा' ।

शब्दार्थ

लाजा = राजा ; **अहा** = आह, कहा ; **कयाने** = कल्याण ; **दुकले** = दुष्कर ; **आदिकले** = आदि कर, शुरू करने वाला ; **कलेति** = करोति, करता है ; **ममया** = मेरे द्वारा ; **कटे** = किए गए हैं ; **नताले** = नप्तारः, पौत्र ; **अपतिये** = अपत्यं, सन्तान ; **आवकपं** = कल्पान्त तक ; **अनुवटिसंति** = अनुसरण करेंगे ; **सुकटं** = सुकृत, पुण्य ; **कछंति** = करेंगे ; **देसं पि** = थोड़ा भी, किञ्चित मात्र भी ; **हापयिसंति** = भंग करेंगे ; **दुकटं** = दुष्कृतं, पाप ; **सुपदालये** = सुप्रवेश्य, आसान ; **से अतिकंत अंतलं** = वहुत काल से ; **हुतपुलव** = भूतपूर्व ; **तेदस** = तेरह ; **पासंसु** = सम्प्रदायों में ; **वियापटा** = नियुक्त ; **धमाधिथानाये** = धर्म की स्थापना के लिए ; **धंमवढिया** = धर्म की वृद्धि के लिए ; **हित सुखाये** = हित सुख के लिए ; **धंमयुतसा** = धार्मिकों के, धर्मात्माओं के ; **अंने** = औरों में ; **अपलंता** = अपरान्तों में ; **भटमयेसु वंमनिभेसु** = शूद्र, वैश्य, ब्राह्मण व इभ्यों (राजाओं-क्षत्रियों में) ; **बुधेसु** = वृद्धों में ; **अपलिवोधाये** = बाधाएँ दूर करने के लिए ; **बंधनबधसा** = बन्धनों में।बँधे हुए के, वन्दियों के ; **पटिविधानाये** = प्रतिविधानाय, द्रव्यादि से सहायता के लिए ; **अपलिवोधाए** = अपरिवाधाय, चारों तरफ से कठिनाइयों के अभाव के लिए ; **मोखाये** = मोक्ष के लिए ; **अनुबधा पजाव** = जो प्रजा अर्थात् सन्तान से बँधे हुए हैं ; **कटाभिकाले** = जिसने पहिले सेवा की है ; **महालके** = वृद्ध ; **हिदा** = यहाँ ; **ओलोधनेसु** = अन्तःपुरों में ; **भातिनं** = भाइयों के ; **भगिनिना** = बहिनों के ; **अंने नातिक्ये** = अन्य सम्वन्धियों के ; **धंमनिसिते** = धर्मोन्मुख ; **दान सुयुते** = दान संयुक्त ; **सवता विजितसि** = समस्त साम्राज्य में ; **धंमयुत** = धर्मनिष्ठ ; **एताये अठाये** = इसलिए ; **चिलथितिक्या** = चिरस्थायी ; **होतु** = भवतु, होवे ; **पजा** = प्रजा ; **अनुवततु** = अनुवर्तन्ताम्, अनुसार आचरण करें।

अनुवाद

देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा ने कहा, 'कल्याण (करना) दुष्कर है। जो कल्याण का आदि कर (अर्थात् आरम्भक) है वह दुष्कर कर्म करता है। मेरे द्वारा वहुत से कल्याण (कार्य) किए गए हैं। जो मेरे पुत्र और पौत्र और उनके बाद जो मेरे वंशज होंगे वे कल्पनान्त तक वैसा ही अनुसरण करेंगे (अर्थात् कल्याण करते रहेंगे) तो सुकृत करेंगे। किन्तु जो इसको (इस कर्त्तव्य को) अंश मात्र भी भंग करेगा वह पाप करेगा। पाप (एक) सुप्रवेश्य (घर) है। भूतकाल में वहुत समय से धर्ममहामात्र नाम के अधिकारी नहीं होते थे। तेरह वर्ष से अभिषिक्त मेरे द्वारा (अर्थात् मेरे द्वारा जो तेरह वर्ष से राजा पद पर अभिषिक्त है) धर्ममहामात्र नियुक्त किये गये। वे धर्म की स्थापना के लिए और धर्म की वृद्धि के लिए और धर्मात्माओं के हित और सुख के लिए सब सम्प्रदायों में तथा यवनों, कम्बोजों, गन्धारों……एवं अन्य अपरान्तों में नियुक्त हैं। वे भृत्यों (= शूद्रों) वैश्यों, ब्राह्मणों व इभ्यों (= राजाओं = क्षत्रियों)

में, अनाथों में, वृद्धों में, उनके हित और सुख के लिए व धर्मात्माओं की बाधाएँ दूर करने के लिए नियुक्त हैं।

वे बन्दियों को (मुक्ति हेतु) द्रव्यादि से सहायता देने के लिए उनकी कठिनाइयों को दूर करने के लिए तथा उनकी मुक्ति के लिए (प्रयास करने में) लगे हैं, विशेषत: अगर वे (= वन्दी लोग) सन्तान (के भार) से बँधे हुए (= दबे हुए) हैं, अथवा उन्होंने पहिले सेवा की है (अर्थात् वे सेवा करके मुक्त होने के अधिकारी हो गए हैं) अथवा बहुत वृद्ध हो गये हैं। यहाँ और बाहर के नगरों में (मेरे) सब अन्तःपुरों में तथा मेरे भाइयों, बहिनों तथा यहाँ तक कि अन्य सम्बन्धियों के (अन्त:पुरों में) भी, वे सर्वत्र लगे हुए हैं। वह (= कोई) चाहे धर्मोन्मुख है, चाहे दान संयुक्त है (अर्थात् दान देने वाला है) और चाहे धर्मनिष्ठ है, वे धर्ममहामात्र मेरे राज्य में सर्वत्र नियुक्त हैं। इसलिए यह धर्मलिपि लिखी गई है कि यह चिरस्थायी होवे और मेरी प्रजा इसके अनुसार आचरण करे।

व्याख्या

१. **ममया बहु कयाने कटे**—कयाने = कल्याण कार्य। इनके विस्तृत वर्णन के लिए दे०, सप्तम स्तम्भ लेख। 'महासुतसोम जातक' में बोधिसत्त्व कहते हैं: 'कतामें कल्याण अनेक रूपा' = मेरे द्वारा बहुत से कल्याण किए गए हैं। अशोक के कथन का जातक कथा के इस कथन के साथ शाब्दिक ही नहीं विचारात्मक सादृश्य भी है क्योंकि जातक कथा में कल्याण कर्मों के अन्तर्गत दानमय यज्ञ, माता-पिता की सेवा, सजातीयों और मित्रों की सेवा, धर्मानुसार शासन और बिना पश्चात्ताप परलोक-गमन की तैयारी करना भी गिनाये गये हैं जिनका अशोक के अभिलेखों में यत्र-तत्र उल्लेख मिलता है।

१. **धंम महामाता** = धर्ममहामात्र। बुद्धघोष के अनुसार महामात्र = महा अमात्य। स्मिथ ने धर्ममहामात्र का अनुवाद censors किया है। उनकी नियुक्ति अशोक के शासन के १३वें वर्ष में की गई। विभिन्न अभिलेखों (विशेषतः प्रस्तुत पञ्चम शिलालेख, १२वें एवं १३वें शिलालेख, सप्तम स्तम्भ लेख व संघ-भेद अभिलेख) में उनके निम्नलिखित कर्त्तव्य बताए गए हैं: (१) समस्त धार्मिक सम्प्रदायों से सम्बन्धित कर्त्तव्य, यथा उनके अनुयायियों में धर्म की स्थापना, धर्म की वृद्धि, धार्मिक जनों के हित सुख की वृद्धि, धार्मिक सहिष्णुता और समन्वय की वृद्धि, राजकीय संरक्षण का समुचित वितरण आदि। (२) राज परिवार के सदस्यों से सम्बन्धित कर्तव्य, यथा राजा के भाइयों, बहिनों तथा दूसरे सम्बन्धियों द्वारा प्रदत्त दान के वितरण की व्यवस्था, उनको सब धार्मिक सम्प्रदायों की सहायता के लिए प्रेरित करना, उनमें धर्म का प्रचार करना आदि। (३) यौन, कम्बोज, गन्धार, राष्ट्रिक पेतेणिक तथा अन्य अपरान्तों की अन्य जातियों एवं वृद्धों, अनाथों, शूद्रों, वैश्यों, ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों से सम्बन्धित कर्त्तव्य जैसे उनके हित सुख की वृद्धि और धर्मात्माओं की

बाधाओं को दूर करना। (४) बन्दीघरों की व्यवस्था से सम्बन्धित कर्तव्य यथा बन्दियों के हित सुख की व्यवस्था, कुछ विशेष परिस्थितियों में उन्हें छोड़ने की व्यवस्था, उनको अत्याचार से बचाना आदि। उनका पद एवं अधिकार तथा कर्तव्य कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' के धर्मस्थों से सर्वथा भिन्न थे। 'अर्थशास्त्र' के धर्मस्थ विशुद्ध न्यायाधीश थे। यह सही है कि धर्मस्थों को भी धर्म महामात्रों के समान तपस्वी, तीर्थंकर (किसी धार्मिक सम्प्रदाय का संस्थापक) वृद्ध एवं पहिले से ही पर्याप्त दण्डित तथा द्रव्यहीन आदि प्रकार के अपराधियों के साथ दयालुता दिखाने का अधिकार था परन्तु धर्मस्थ न्यायाधीश के रूप में दयालुता दिखाते थे जबकि धर्ममहामात्र सम्राट् के प्रतिनिधि के रूप में।

३. **सव पासंडेसु** = सब सम्प्रदायों में। 'पासंड' शब्द के लिए दे०, ७वाँ शि० ले०, टि० १।

४. **धंमधिथानाये** = धर्माधिष्ठानाय। यह विचार 'भगवद्गीता' (४-८) के 'धर्मसंस्थापनार्थाय' आदर्श से तुलनीय है।

५. **हिदसुखाये धंमयुतसा ; धंमयुताये अपलिबोधाये** = धर्मात्माओं के हित सुख के लिए, धर्मात्माओं की बाधाएँ दूर करने के लिए। तु० गीता (४-८) का 'परित्राणाय साधूनाम्' आदर्श।

६. **योनकंबोज गंधालानं (रिस्टिक पेतेणिकानं) एवापि अंने अपलंता**— योन = यवन। **यवन** शब्द 'आयोनियन' से बना है। ईरानी लोग यूनानियों को यवन कहते थे। भारतीयों ने यह शब्द इसी अर्थ में ईरानियों से लिया। अशोक द्वारा उल्लिखित योन लोग न्यस नगर के निवासी थे जो काबुल और सिन्धु नदियों के मध्य स्थित था। यहाँ यवनों का एक अति प्राचीन उपनिवेश था। उन्होंने सिकन्दर के भारत-प्रवेश के समय उसका स्वागत किया था। कन्धार से प्राप्त द्विभाषीय लेख में यूनानी भाषा का प्रयोग पश्चिमोत्तर प्रदेशों में यूनानियों का महत्त्व प्रमाणित करता है। 'महाभारत' (१२-२०७-४३) में एक स्थल पर यवनों, काम्बोजों व गान्धार वासियों का इसी क्रम से उल्लेख मिलता है। 'अस्सलायन सुत्त' में योनों और काम्बोजों को पश्चिमोत्तर जनपद बताया गया है। बुद्धघोष के अनुसार उन पर ईरानी प्रभाव था। 'महावंस' में योनों की राजधानी अलसन्द (= अलेक्जेण्ड्रिया) का उल्लेख है। **कम्बोज** = कश्मीर के दक्षिण में राजौरी के प्रदेश के निवासी। **गंधालानं** = गन्धार के निवासी। गन्धार = तक्षशिला = पुष्कलावती अर्थात् पेशावर प्रदेश। 'अगुंत्तर निकाय' की सुप्रसिद्ध महाजनपद-सूची में कम्बोज व गन्धार भी गिनाए गए हैं। प्रस्तुत अभिलेख में गंधार के बाद के दो शब्द मिट गए हैं। इस लेख के अन्य संस्करणों से ज्ञात होता है कि वहाँ रिस्टिक व पेतेणिक नाम लिखे थे। **रिस्टिक** = राष्ट्रिक। भाण्डारकर के अनुसार वे नासिक व पूना के आस-पास रहते थे। दे०, हाथिगुम्फा-लेख में रठिको का उल्लेख। 'राष्ट्रिय' शब्द उच्च पदाधिकारी, 'गवर्नर',

अर्थ में भी आता था। (दे०, बरुआ, पूर्वो०, पृ० २६४ ; रुद्रदामा का जूनागढ़-लेख)। **पेतणिक** की पहिचान निश्चित नहीं है। १३वें शिलालेख में रिस्टिक पेतणिकों के स्थान पर 'भोजपेतेणिकों' का उल्लेख है। कुछ विद्वान् जैसे रा० ब० पाण्डेय इसे पैत्रयाणिक नाम की जाति मानते हैं तथा कुछ इस नाम का सम्बन्ध महाराष्ट्र के प्रतिष्ठान नगर से जोड़ते हैं। परन्तु भाण्डारकर का कहना है कि यहाँ पेतेनिक का अर्थ जागीरदार या लघु राजा है। वह रिस्टिक पेतेनिक को एक शब्द मानते हैं। **अपलंता** = अपरान्त की जातियाँ। 'अपरान्त' का शाब्दिक अर्थ है पश्चिमी सीमा। वैसे यह पश्चिमी भारत के एक प्रदेश का नाम भी था जिसका उल्लेख शक-सातवाहन अभिलेखों में व साहित्य में प्रायः हुआ है। बरुआ ने यहाँ अपरान्त का अर्थ 'पश्चिमी सीमा' माना है।

७. **भटमयेसुबंभनिभेसु**—भाण्डारकर ने इसका अर्थ किया है 'भृतमय (सेवकों सहित) सांसारिक ब्राह्मण और गृहपति'। 'भटमयेसु' का अर्थ बहुत से विद्वान् भट (= सैनिक) और आर्य (= नेता) मानते हैं। बरुआ के अनुसार यहाँ मजदूरी द्वारा पेट पालने वाले सेवकों एवं भिक्षा पर निर्भर रहने वाले ब्राह्मणों एवं श्रमणों से आशय है। इस विषय में सर्वोत्तम सुझाव रायचौधुरी का है। उसके अनुसार इस पद में चारों वर्णों का उल्लेख हुआ है : भट = भृत्य = शूद्र ; अय = आर्य = वैश्य ; बंभन = ब्राह्मण ; इभ्य = राजा = क्षत्रिय। आर्य शब्द के वैश्य अर्थ में प्रयोग के लिए दे०, बरुआ, पूर्वो०, पृ० २७०। सरकार ने भी रायचौधुरी की व्याख्या मानी है।

८. **धंमयुत** = धर्मात्मा या धर्मनिष्ठ। कुछ विद्वानों ने इसका अर्थ 'धर्म विभाग' का अधिकारी किया है और स्मिथ ने 'धर्म विधि के अधीन अधिकारी।' पाण्डेय ने भी धर्मयुतों को पदाधिकारियों का एक वर्ग माना है। परन्तु अशोक ने धर्मयुतों की नियुक्ति का कहीं उल्लेख नहीं किया है। दूसरे, यदि धर्मयुत राजकीय पदाधिकारी होते तो धर्ममहामात्र उनके हित सुख के लिए चिन्तित क्यों होते ? तीसरे, सप्तम स्त० लें० में रज्जुकों द्वारा 'धंमयुत जनों' को उपदेश दिए जाने का स्पष्ट उल्लेख है। अतः यहाँ, इस पद से धर्मयुक्त नाम के पदाधिकारियों से आशय नहीं हो सकता। रोमिला थापर ने धंमयुत को धर्मनिष्ठ अर्थ में ही लिया है।

९. **पटिविधानाये अपलिबोधाए मोखाए** = प्रतिविधानाय अपरिबाधाय मोक्षाय। 'सामञ्ञफल सुत्त' में बुद्ध ने बन्दियों की तुलना दासों से की है। प्रस्तुत लेख बन्दियों की मुक्ति के तीन उपाय बताता है। एक, प्रतिविधान जो ८वें शिलालेख का 'हिरण्य प्रतिविधान' (= सुवर्ण देना) है। अतः प्रतिविधान का आशय है '(द्रव्य) देना' अर्थात् मुक्ति के बदले में धन देना। 'पलिबोध' का पालि में अर्थ होता है 'बन्धन'। अतः 'अपलिबोधाए' का आशय हुआ 'बन्धन मुक्त करने के लिए'। 'मोख' का अर्थ भी बन्धन मुक्ति ही है। तु० 'अर्थशास्त्र' (४-८) जहाँ कौटिल्य किसी

बन्दी को बिना कारण बताए जेल में रखने, सताने, भूखा रखने अथवा मार डालने पर जेल के अधिकारियों को दण्डित करने का विधान करता है।

१०. **अनुबधा पजा व तिवा कटाभिकाले ति वा महालके ति वा**—यहाँ वे तीन परिस्थितियाँ बताई गई हैं जिनमें बन्दियों पर दया दिखाई जा सकती थी। 'अनुबधा' की वर्तनी अन्य लेखों में अनुबंधा या 'अनुबंध' है। बरुआ के अनुसार 'अनुबधा पजाव' समास है और इसका अर्थ है 'वे जिन पर अत्यधिक प्रजा (सन्तान) का भार है'। 'कटाभिकाले' का अर्थ हूल्त्श ने 'असाध्य रोग वाले' किया है, ब्युलर ने विपत्ति द्वारा सताए गए हुए तथा अन्य कुछ विद्वानों ने कृताभिचार = 'वे जिनपर जादू टोना किया गया है' किया है। कौटिल्य ने भी कृत्या और अभिचार का उल्लेख किया है। परन्तु बरुआ के अनुसार यहाँ अशोक का आशय प्राकृत के 'कटाधिकार' से है जिसका अर्थ है 'वह जिसने अपने पुराने अच्छे व्यवहार से दया पाने का अधिकार प्राप्त कर लिया है।' कौटिल्य ने राजकुमार के जन्म या अभिषेक आदि के अवसरों पर जिन बन्दियों को छोड़ने का नियम दिया है उनमें वे बन्दी भी शामिल हैं जो अपने अच्छे कर्मों से अनुग्रह पाने का अधिकार प्राप्त कर लेते हैं।

११. **हिदा बाहिलेषु चा नगलेसु** = 'यहाँ और बाहर के नगरों में'। इस लेख के गिरनार संस्करण में 'हिदा' के स्थान पर 'पाटलिपुते' पाठ है। इससे सिद्ध है कि यह लेख मूलतः पाटलिपुत्र के लिए लिखा गया था। इसीलिए इसके मूल 'ड्राफ्ट' में 'हिदा' पाठ था। जब इसे अन्य प्रान्तों में उत्कीर्ण कराया गया तो वहाँ इसके इस अंश को यथावत् खोद दिया गया जिससे 'हिदा' पाठ असंगत हो गया, केवल गिरनार के अधिकारी ने 'हिदा' के स्थान पर 'पाटलिपुते' लिखने की बुद्धिमानी दिखाई। आनुषंगिक रूप से इससे प्रमाणित है कि पाटलिपुत्र नगर अशोक की राजधानी था। बाहर के नगरों से आशय प्रान्तीय व जिला केन्द्रों से है।

१२. **सवेसु ओलोधनेसु** = सर्वेषु अवरोधनेसु = सब अन्तःपुरों में। अशोक के अपने अन्तःपुर कई नगरों में थे। सिंहली कथाओं के अनुसार उसने विदिशा की देवी नामक एक कुमारी से विवाह किया था जो पाटलिपुत्र में न रहकर विदिशा में ही रहती थी। कारुवाकी नामक रानी का निवास हो सकता है कौशाम्बी में रहा हो (७वाँ स्त० ले०)। पाटलिपुत्र में तो अशोक का मुख्य 'हरम' रहा ही होगा। 'समन्तपासादिका' में कहा गया है कि उसके धर्म परिवर्तन के समय उसके अन्तःपुर में उसकी रानी असन्धिमित्ता के अतिरिक्त १६००० नर्तकियाँ (नाटकित्थियाँ) रखैल के रूप में रहती थीं। यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है कि प्रस्तुत लेख में अशोक अपने भाइयों, बहिनों व अन्य सम्बन्धियों के अन्तःपुरों का भी उल्लेख करता है।

अर्थ में भी आता था। (दे०, वरुआ, पूर्वो०, पृ० २६४ ; रुद्रदामा का जूनागढ़-लेख)। **पेतणिक** की पहिचान निश्चित नहीं है। १३वें शिलालेख में रिस्टिक पेतणिकों के स्थान पर 'भोजपेतेणिकों' का उल्लेख है। कुछ विद्वान् जैसे रा० ब० पाण्डेय इसे पैत्रयाणिक नाम की जाति मानते हैं तथा कुछ इस नाम का सम्बन्ध महाराष्ट्र के प्रतिष्ठान नगर से जोड़ते हैं। परन्तु भाण्डारकर का कहना है कि यहाँ पेतेनिक का अर्थ जागीरदार या लघु राजा है। वह रिस्टिक पेतेनिक को एक शब्द मानते हैं। **अपलंता** = अपरान्त की जातियाँ। 'अपरान्त' का शाब्दिक अर्थ है पश्चिमी सीमा। वैसे यह पश्चिमी भारत के एक प्रदेश का नाम भी था जिसका उल्लेख शक-सातवाहन अभिलेखों में व साहित्य में प्रायः हुआ है। वरुआ ने यहाँ अपरान्त का अर्थ 'पश्चिमी सीमा' माना है।

७. **भटमयेसुबंभनिभेसु**—भाण्डारकर ने इसका अर्थ किया है 'भृतमय (सेवकों सहित) सांसारिक ब्राह्मण और गृहपति'। 'भटमयेसु' का अर्थ वहुत से विद्वान् भट (= सैनिक) और आर्य (= नेता) मानते हैं। बरुआ के अनुसार यहाँ मजदूरी द्वारा पेट पालने वाले सेवकों एवं भिक्षा पर निर्भर रहने वाले ब्राह्मणों एवं श्रमणों से आशय है। इस विषय में सर्वोत्तम सुझाव रायचौधुरी का है। उसके अनुसार इस पद में चारों वर्णों का उल्लेख हुआ है : भट = भृत्य = शूद्र ; अय = आर्य = वैश्य ; वंभन = ब्राह्मण ; इभ्य = राजा = क्षत्रिय। आर्य शब्द के वैश्य अर्थ में प्रयोग के लिए दे०, बरुआ, पूर्वो०, पृ० २७०। सरकार ने भी रायचौधुरी की व्याख्या मानी है।

८. **धंमयुत** = धर्मात्मा या धर्मनिष्ठ। कुछ विद्वानों ने इसका अर्थ 'धर्म विभाग' का अधिकारी किया है और स्मिथ ने 'धर्म विधि के अधीन अधिकारी।' पाण्डेय ने भी धर्मयुतों को पदाधिकारियों का एक वर्ग माना है। परन्तु अशोक ने धर्मयुतों की नियुक्ति का कहीं उल्लेख नहीं किया है। दूसरे, यदि धर्मयुत राजकीय पदाधिकारी होते तो धर्ममहामात्र उनके हित सुख के लिए चिन्तित क्यों होते ? तीसरे, सप्तम स्त० ले० में रज्जुकों द्वारा 'धंमयुत जनों' को उपदेश दिए जाने का स्पष्ट उल्लेख है। अतः यहाँ, इस पद से धर्मयुक्त नाम के पदाधिकारियों से आशय नहीं हो सकता। रोमिला थापर ने धंमयुत को धर्मनिष्ठ अर्थ में ही लिया है।

९. **पटिविधानाये अपलिबोधाए मोखाए** = प्रतिविधानाय अपरिबाधाय मोक्षाय। 'सामञ्ञफल सुत्त' में बुद्ध ने बन्दियों की तुलना दासों से की है। प्रस्तुत लेख वन्दियों की मुक्ति के तीन उपाय वताता है। एक, प्रतिविधान जो ८वें शिलालेख का 'हिरण्य प्रतिविधान' (= सुवर्ण देना) है। अतः प्रतिविधान का आशय है '(द्रव्य) देना' अर्थात् मुक्ति के बदले में धन देना। 'पलिबोध' का पालि में अर्थ होता है 'बन्धन'। अतः 'अपलिवोधाए' का आशय हुआ 'बन्धन मुक्त करने के लिए'। 'मोख' का अर्थ भी बन्धन मुक्ति ही है। तु० 'अर्थशास्त्र' (४-८) जहाँ कौटिल्य किसी

बन्दी को बिना कारण बताए जेल में रखने, सताने, भूखा रखने अथवा मार डालने पर जेल के अधिकारियों को दण्डित करने का विधान करता है।

१०. **अनुबधा पजा व तिवा कटाभिकाले ति वा महालके ति वा**—यहाँ वे तीन परिस्थितियाँ बताई गई हैं जिनमें बन्दियों पर दया दिखाई जा सकती थी। 'अनुबधा' की वर्तनी अन्य लेखों में अनुबंधा या 'अनुबंध' है। बरुआ के अनुसार 'अनुबधा पजाव' समास है और इसका अर्थ है 'वे जिन पर अत्यधिक प्रजा (सन्तान) का भार है'। 'कटाभिकाले' का अर्थ हूल्त्श ने 'असाध्य रोग वाले' किया है, ब्युलर ने विपत्ति द्वारा सताए गए हुए तथा अन्य कुछ विद्वानों ने कृताभिचार = 'वे जिनपर जादू टोना किया गया है' किया है। कौटिल्य ने भी कृत्या और अभिचार का उल्लेख किया है। परन्तु बरुआ के अनुसार यहाँ अशोक का आशय प्राकृत के 'कटाधिकार' से है जिसका अर्थ है 'वह जिसने अपने पुराने अच्छे व्यवहार से दया पाने का अधिकार प्राप्त कर लिया है।' कौटिल्य ने राजकुमार के जन्म या अभिषेक आदि के अवसरों पर जिन बन्दियों को छोड़ने का नियम दिया है उनमें वे बन्दी भी शामिल हैं जो अपने अच्छे कर्मों से अनुग्रह पाने का अधिकार प्राप्त कर लेते हैं।

११. **हिदा बाहिलेषु चा नगलेसु** = 'यहाँ और बाहर के नगरों में'। इस लेख के गिरनार संस्करण में 'हिदा' के स्थान पर 'पाटलिपुते' पाठ है। इससे सिद्ध है कि यह लेख मूलतः पाटलिपुत्र के लिए लिखा गया था। इसीलिए इसके मूल 'ड्राफ्ट' में 'हिदा' पाठ था। जब इसे अन्य प्रान्तों में उत्कीर्ण कराया गया तो वहाँ इसके इस अंश को यथावत् खोद दिया गया जिससे 'हिदा' पाठ असंगत हो गया, केवल गिरनार के अधिकारी ने 'हिदा' के स्थान पर 'पाटलिपुते' लिखने की बुद्धिमानी दिखाई। आनुषंगिक रूप से इससे प्रमाणित है कि पाटलिपुत्र नगर अशोक की राजधानी था। बाहर के नगरों से आशय प्रान्तीय व जिला केन्द्रों से है।

१२. **सवेसु ओलोधनेसु** = सर्वेषु अवरोधनेसु = सब अन्तःपुरों में। अशोक के अपने अन्तःपुर कई नगरों में थे। सिंहली कथाओं के अनुसार उसने विदिशा की देवी नामक एक कुमारी से विवाह किया था जो पाटलिपुत्र में न रहकर विदिशा में ही रहती थी। कारुवाकी नामक रानी का निवास हो सकता है कौशाम्बी में रहा हो (७वाँ स्त० ले०)। पाटलिपुत्र में तो अशोक का मुख्य 'हरम' रहा ही होगा। 'समन्तपासादिका' में कहा गया है कि उसके धर्म परिवर्तन के समय उसके अन्तःपुर में उसकी रानी असन्धिमित्ता के अतिरिक्त १६००० नर्तकियाँ (नाटकित्थियाँ) रखैल के रूप में रहती थीं। यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है कि प्रस्तुत लेख में अशोक अपने भाइयों, बहिनों व अन्य सम्बन्धियों के अन्तःपुरों का भी उल्लेख करता है।

षष्ठ शिलालेख

(गिरनार संस्करण)

मूलपाठ

१. देवा····सि राजा एवं आह [।] अतिक्रातं अंतरं
२. न भूतप्रुव सव····ल अथकंमे व पटिवेदना वा [।] त मया एवं कतं [।]
३. सवे काले भुंजमानस मे ओरोधनम्हि गभागारम्हि वचम्हि व
४. विनीतम्हि च उयानेसु च सवत्र पटिवेदका स्टिता अथे मे जनस
५. पटिवेदेथ इति [।] सर्वत्र च जनस अथे करोमि [।] य च किंचि मुखतो
६. आजपयामि स्वयं दापकं वा स्त्रावापकं वा य वा पुन महामात्रेसु
७. आचायिके अरोपितं भवति ताय अथाय विवादो निझती व संतो परिसायं
८. आनंतरं पटिवेदेतव्यं मे सर्वत्र सर्वे काले [।] एवं मया आजपितं [।] नास्ति हि मे तोसो ।
९. उस्टानम्हि अथसंतीरणाय व [।] कतव्यमते हि मे सर्वलोकहितं [।]
१०. तस च पुन एस मूले उस्टानं च अथसंतीरणा च [।] नास्ति हि कंमतरं
११. सर्वलोकहितत्पा [।] य च किंचि पराक्रमामि अहं किंति भूतानं आनंणं गछेयं
१२. इध च नानि सुखापयामि परत्रा च स्वगं आराधयंतु त [।] एताय अथाय
१३. अयं धंमलिपी लेखापिता किंति चिरं तिस्टेय इति तथा च मे पुत्रा पोता च प्रपोत्रा च
१४. अनुवतरं सवलोकहिताय [।] दुकरं तु इदं अञत्र अगेन पराक्रमेन [॥]

सप्तम शिलालेख

(गिरनार संस्करण)

मूलपाठ

१. देवानंपियो पियदसि राजा सर्वत इछति सवे पासंडा वसेयु [।] सवे ते समयं च

२. भावसुधिं च इछति [।] जनो तु उचावचछंदो उचावचरागो [।] ते सर्वं व कासंति एकदेसं व कसंति

३. विपुले तु पि दाने यस नास्ति सयमे भावसुधिता व कतंञता व दढभतिता च निचा बाढं [॥]

पाठ-टिप्पणी—'सर्वत' शब्द 'इछति' अथवा 'पासंडा' के उपरान्त खोदा जाना चाहिए था ।

शब्दार्थ

सर्वत = सर्वत्र ; **इछति**=इच्छति, इच्छा करता है ; **पासंडा**=पाषण्ड, सम्प्रदाय ; **सवे** = सब ; **ते** = वे ; **भावसुधि** = भावशुद्धि ; **उचावचछंदो** = उच्चावचच्छन्दः, ऊँच-नीच विचार ; **उचावचरागो** = उच्चावचरागः, कम या ज्यादा धर्मानुराग ; **कासंति** = करेंगे ; **एकदेसं** = एक अंश ; **सयमे** = संयम ; **भावसुधिता** = भावशुद्धता ; **कतंञता** = कृतज्ञता, **दडभतिता** = दृढभक्ति ; **निचावाढम्** = अत्यधिक नीच ।

अनुवाद

देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा इच्छा करते हैं कि सब सम्प्रदाय सर्वत्र (अर्थात् समस्त साम्राज्य) में बसें । वह उन सबके लिए संयम और भावशुद्धि चाहते हैं (अर्थात् संयम और भावशुद्धि की कामना करते हैं) । किन्तु लोग (अर्थात् विभिन्न सम्प्रदायों के अनुयायी) ऊँच-नीच विचारवाले और न्यूनाधिक धर्मानुराग वाले होते हैं । वे या तो सब करते हैं (अर्थात् सम्पूर्ण कर्त्तव्य का पालन करते हैं) अथवा उसके एक अंश को करते हैं (अर्थात् एक अंश मात्र का पालन करते हैं) । विपुलदान (देने) के बावजूद भी जिसमें संयम, भावशुद्धता, कृतज्ञता और दृढ़भक्ति, नहीं हैं (वह) अत्यधिक नीच है ।

व्याख्या

१. **पासंड** = सम्प्रदाय । अशोक के अभिलेखों में यह शब्द निश्चय ही धार्मिक सम्प्रदाय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । इसी अर्थ में इसका प्रयोग हाथिगुम्फा-लेख में हुआ है जिसमें खारवेल को 'सव पासड पूजको' कहा गया है । लेकिन इसका संस्कृत रूपान्तर पार्षद करना चाहिए या पासण्ड इस विषय में मतभेद है । सरकार का अनुमान है कि यह संस्कृत पार्षद (= किसी समाज या सभा का सदस्य) का प्राकृत रूप है जिसका यहाँ अर्थ 'किसी एक सिद्धान्त विशेष का अनुगमन करनेवाले लोग' होगा । इस लेख के शाहबाजगढी संस्करण में 'प्रसंड' शब्द के प्रयोग से इस मत का समर्थन होता है । परन्तु मुकर्जी व पाण्डेय ने इसका संस्कृत रूपान्तर 'पाषण्ड' किया है । 'मनुस्मृति' में कहा गया है : कितवान् कुशीलवान् क्रूरान् पाषण्डस्थांश्च मानवान् । विकर्म स्थान् शौण्डिकांश्च क्षिप्रं निर्वासयेत् पुरात् ॥ अर्थात् जुआड़ियों, नटों, क्रूरों, पाषण्डों, विकर्म करने वालों तथा शराब बनाने वालों को राजा अपने नगर से शीघ्र निर्वासित कर दे । कुल्लूकभट्ट ने 'मनुस्मृति' की टीका में 'पाषण्ड' का अर्थ 'श्रुति स्मृति बाह्य व्रतधारी' किया है । स्पष्टतः प्राचीन काल में 'पाषण्ड' का सामान्य अर्थ था 'परम्परा विरोधी सम्प्रदाय' । प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य में इसका प्रयोग बौद्धेतर सम्प्रदायों (आजीवक, निर्ग्रन्थ व ब्राह्मण आदि) के लिए हुआ है और 'मनुस्मृति' में स्पष्टतः ब्राह्मणेतर सम्प्रदायों के लिए । कौटिल्य के अनुसार भी चण्डालों और पाषण्डों को नगर से दूर श्मशान के निकट वास करना चाहिए । उसके एक अन्य नियम के अनुसार गोप की अनुमति के बिना पाषण्डों व चण्डालों को धर्म-

शाला में नहीं ठहरने देना चाहिए। और देखना चाहिए कि उनके सामान में सन्दिग्ध वस्तुएं तो नहीं हैं। इस कथन के प्रकाश में मुखर्जी ने अशोक की इस इच्छा को कि सब सम्प्रदाय सर्वत्र बसें, 'अर्थशास्त्र' के नियम के विरुद्ध माना है। परन्तु यहाँ अशोक सब सम्प्रदायों को सर्वत्र (सारे साम्राज्य में) बसा हुआ देखने की इच्छा प्रकट कर रहा है, धर्मशालाओं में ठहरने के नियमों की बात नहीं कर रहा। दूसरे, कौटिल्य का नियम बौद्ध, जैन और आजीवक भिक्षुओं का वेश धारण करनेवाले जासूसों पर नियन्त्रण रखने के लिए बनाया गया लगता है, सच्चे ब्राह्मणेतर भिक्षुओं के लिए नहीं।

२. **सयमे, भावसुधिता, कतंञता व ढडमतिता**—ये चार नैतिक गुण हैं। शुरू में इन्हीं को ही संक्षित करके 'सयमे' च भावसुधि' कहा गया है। 'महाभारत' के शान्ति पर्व में एक स्थल पर दृढभक्तित्व, कृतज्ञता, धर्मज्ञता और इन्द्रिय संयम का, एक अन्य स्थल पर दृढभक्तित्व, कृतज्ञता, संविभाजना और जितेन्द्रियता और एक तीसरे स्थल पर दृढभक्तित्व, कृतज्ञता, जितेद्रियता और प्राज्ञता का वर्णन है। संयम ('महाभारत' का इन्द्रिय संयम या जितेन्द्रियता) को अशोक ने द्वादश-शिलालेख में वाक्-संयम (=दूसरे सम्प्रदायों की बुराई न करना) और ग्यारहवें शिलालेख में अहिंसा अर्थ में (पाणेसु सयमो साधु) लिया है। कृतज्ञता के अन्तर्गत 'जवसकुण जातक' में उपकारी के अहसान को मानना, कारी के अहसान को उतारना और उपकारी को हानि न पहुँचाना—ये तीन गुण गिनाए गए हैं। ढडभतिता 'महाभारत' का दृढ़भक्तित्व है। पालि साहित्य में दान देने वाले के हृदय में श्रद्धा का होना आवश्यक बताया गया है।

३. **निचाबाढं**—ब्युलर ने धौली व जौगढ के 'नीचे बाढं' का अर्थ किया है 'नीच मनुष्य में प्रशंसनीय'। रा० ब० पाण्डेय ने 'निचाबाढं' का अर्थ बताया है 'नित्य आवश्यक'। सरकार ने अन्तिम पंक्ति के शाहबाजगढ़ी संस्करण का अनुवाद इस प्रकार किया है 'वह जो विपुलदान तो देता है परन्तु जिसमें संयम, भावशुद्धि, कृतज्ञता व दृढभक्ति नहीं है, उसका दान अत्यन्त हीन होता है'।

अष्टम शिलालेख

. (गिरनार संस्करण)

मूलपाठ

१. अतिकातं अंतरं राजानो विहारयातां जयासु [।] एत मगव्या अञानि च एतारिसनि

२. अभीरमकानि अहुंसु [।] सो देवानंप्रियो पियदसि राजा दसवर्साभिसितो संतो अयाय संबोधि [।]

३. तेनेसा धंमयाता [।] एतयं होति बाम्हणसमणानं दसणे च दाने च थैरानं दसणे च

४. हिरंणपटिविधानो च जानपदस च जनस दस्पनं धंमानुसस्टी च धमपरिपुछा च

५. तदोपया [।] एसा भुय रति भवति देवानंपियस प्रियदसिनो राञो भागे अंञे [॥]

नवम शिलालेख

(गिरनार संस्करण)

मूलपाठ

१. देवानंपियो प्रियदसि राजा एव आह [।] अस्ति जनो उचावचं मंगलं करोते आबाधेसु वा
२. आवाहवीवाहेसु वा पुत्रलाभेसु वा प्रवासंम्हि वा एतम्ही च अञम्हि च जनो उचावचं मंगलं करोते [।]
३. एत तु महिडायो बहुकं च बहुविधं च छुदं च निरथं च मंगलं करोते [।] त कतव्यमेव तु मगलं [।] अपफलं तु खो
४. एतरिसं मंगलं [।] अयं तु महाफले मंगले य धंममंगले [।] ततेत दासभतकम्हि सम्यप्रतिपती गुरूनं अपचिति साधु
५. पाणेसु समयो साधु बम्हणसमणानं साधु दानं एत च अञ च एतारिसं धंममंगलं नाम [।] त वतव्यं पिता व
६. पुतेन वा भात्रा वा स्वामिकेन वा इदं साधु इदं कतव्य मंगलं आव तस अथस निस्टानाय [।] अस्ति च पि वुतं
७. साधु दन इति [।] न तु एतारिसं अस्ता दानं व अनगहो व यारिसं धंमदानं व धमनुगहो व [।] त तु खो मित्रेन व सुहृदयेन वा
८. ञतिकेन व सहायनं व ओवादितव्यं तम्हि तम्हि पकरणे इदं कचं इदं साध इति इमिना सक
९. स्वगं आराधेतु इति [।] कि च इमिना कतव्यतरं यथा स्वगारधी [॥]

एकादश शिलालेख

(गिरनार संस्करण)

मूलपाठ

१. देविनंप्रियो पियदसि राजा एवं आह [।] नास्ति एतारिसं दानं यारिसं धंमदानं धंमसंस्तवो वा धंमसंविभागो वा धंमसंबंधो व [।]

२. तत इदं भवति दासभतकम्हि सम्यप्रतिपती मातरि पितरा साधु सुस्रुसा मितसस्तुतञातिकानं बाम्हणस्रमणानं साधु दानं

३. प्राणानं अनारंभो साधु [।] एत वतव्यं पिता व पुत्रेन व भाता व मितसस्तुतञातिकेन व आव पटीवेसियेहि इद साधु इद कतव्यं [।]

४. सो तथा करु इलोकचस आरधो होति परत च अनंतं पुञं भवति तेन धंमदानेन [॥]

दशम शिलालेख

(गिरनार संस्करण)

मूलपाठ

१. देवानंपियो प्रियदसि राजा यसो व कीति व न महाथावहा मञते अञत तदात्पनो दिघाय च मे जनो
२. धंमसुस्रुंसा सुस्रुसता धंमवुतं च अनुविधियतां [।] एतकाय देवानंपियो पियदसि राजा यसो व किति व इछति [।]
३. यं तु किंचि परिकमते देवानं प्रियदसि राजा त सवं पारत्रिकाय किंति सकले अपपरिस्रवे अस [।] एस तु परिसवे य अपुंञं [।]
४ दुकरं तु खो एतं छुदकेन व जनेन उसटेन व अञत्र अगेन पराक्रमेन सवं परिचजित्पा [।] एत तु खो उसटेन दुकरं [॥]

शब्दार्थ

पासंडानि = धार्मिक सम्प्रदायों को ; **पवजितानि** = प्रव्रजितों को, संन्यासियों को ; **घरस्तानि** = गृहस्थों को ; **विवाधाय** = विविध प्रकार से ; **न तु** = किन्तु नहीं ; **मंञते** = मन्यते, मानते हैं ; **यथा** = जितना ; **किंति** = किमिति, यह क्या ? यह कैसे ? **सारवढी**=सारवृद्धि ; **अस** = स्यात्, होवे ; **वचगुती**=वचोगुप्ति, वचन का गोपन, वाक् संयम ; **पासंड पूजा** = सम्प्रदाय की प्रशंसा; **गरहा** = गर्हा, निन्दा ; **भवे**=भवेत्, होवे ; **अप्रकरणम्हि** =अकारण, अल्प कारण से, अनुचित स्थान पर, अनुचित अवसरों पर ; **लहुका** = लघुका, थोड़ी-थोड़ी ; **पूजेतया** = पूजनीय हैं ; **एवं करुं** = ऐसा करता हुआ ; **वढयति** = वर्द्धयति, वृद्धि करता है ; **तदंतजथा करोतो** = इसके विपरीत करता हुआ ; **क्षणिति** = क्षीण करता है ; **योहि कोचि** = यः हि कश्चित्, वह जो कोई ; **आत्प पासंड भतिया** = आत्म पाषण्ड भक्तया, अपने सम्प्रदाय की भक्ति के कारण ; **आत्म पासंडं दीपेयम** = अपने पासंड का दीपन किया जाए अर्थात् उसकी उन्नति की जाए ; **सोच पुन तथ करातो** = और वह पुनः ऐसा करता हुआ ; **बाढतरं** = अत्यधिक ; **उपहनाति** = हानि करता है ; **समवाय** = मेल जोल, समन्वय ; **साधु** = शुभ ; **अजमंञस** = दूसरों के ; **स्रुणारु** = सुनना चाहिए ; **सुसुंसेर** = सुनाना चाहिए ; **इछा**= इच्छा ; **बहुस्रुता** = बहुश्रुत ; **असु** = हों ; **कलाणागमा** = कल्याणकारी सिद्धान्त वाले ; **प्रसंना** = प्रसन्नाः, अनुरक्त ; **तेहि वतव्यं** = उनके द्वारा कहा जाय ; **बहका** = बहुका, बहुत से ; **एताय अथा** = इस प्रयोजन के लिए ; **व्यापता** = व्यापृताः, नियुक्त हैं ; **इथीझख महामाता** = स्त्र्यध्यक्ष महामात्र ; **वचभूमीका** = व्रजभूमिक ; **अञे** = अन्य ; **निकाय** = वर्ग, समूह ; **अयंच एतस फल** = इसका यह फल है ; **वढी** = वृद्धि ; **दोपना** = उन्नति, प्रकाशन ।

अनुवाद

देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा सब धार्मिक सम्प्रदायों के प्रव्रजितों और गृहस्थों को पूजते हैं, दान और विविध प्रकार की पूजा द्वारा पूजते हैं। किन्तु देवानांप्रिय दान व पूजा को उतना नहीं मानते जितना किसको ? इसको कि सब सम्प्रदायों में सारवृद्धि होवे। सारवृद्धि अनेक प्रकार की होती है। उसका मूल है वचन का गोपन (अर्थात् वाक् संयम)। कैसे ? अपने सम्प्रदाय की प्रशंसा और दूसरों के सम्प्रदाय की निन्दा अनुचित अवसरों पर नहीं होनी चाहिए, थोड़ी हो किसी-किसी उचित अवसर पर। पूजनीय है दूसरों के सम्प्रदाय उन-उन (अर्थात् सब) अवसरों पर। ऐसा करता हुआ (मनुष्य) अपने सम्प्रदाय की वृद्धि करता है। (दूसरों के) सम्प्रदाय का उपकार करता है। इसके अन्यथा (अर्थात् इसके विपरीत) करने वाला (मनुष्य) अपने सम्प्रदाय को क्षीण करता है और दूसरों के सम्प्रदाय का भी अपकार करता है। वह जो कोई अपने सम्प्रदाय की प्रशंसा करता है और दूसरों के सम्प्रदाय की निन्दा, सब अपने सम्प्रदाय के प्रति भक्ति के कारण (करता है)। यह कैसे ? 'अपने सम्प्रदाय

द्वादश शिलालेख

(गिरनार संस्करण)

मूलपाठ

१. देवानंपिये पियदसि राजा सवपासंडानि च पवजितानि च घरस्तानि च पूजयति दानेन च विवाधाय च पूजाय पूजयति ने [।]

२. न तु तथा दानं व पूजा व देवानंपियो मंञते यथा किति सारवढी अस सवपासंडानं [।] सारवढी तु बहुविधा [।]

३. तस तु इदं मूलं य वचिगुती किति आत्पपासंडपूजा व परपासंडगरहा व नो भवे अप्रकरणम्हि लहुका व अस

४. तम्हि तम्हि प्रकरणे [।] पूजेतया तु एव परपासंडा तेन तन प्रकरणेन [।] एवं करुं आत्पपासंडं च वढयति परपासंडस च उपकारोति [।]

५. तदंजथा करोतो आत्पपासंडं च छणति परपासंडस च पि अपकरोति [।] यो हि कोचि आत्पपासंडं पूजयति परपासंडं व गरहति

६. सवं आत्पपासंडभतिया किंति आत्पपासंडं दीपयेम इति सो च पुन तथ करातो आत्पपासंडं बाढतरं उपहनाति [।] त समवायो एव साधु

७ किंति अञमंञस धंमं स्रुणारु च सुसुंसेर च [।] एवं हि देवानंपियस इछा किंति सवपासंडा बहुस्रुता च असु कलाणागमा च असु [।] ।

८. ये च तत्र तत प्रसंना तेहि वतव्यं [।] देवानंपियो नो तथा दानं व पूजां व मंञते यथा किंति सारवढी अस सर्वपासडानं [।] बहका च एताय

९. अथा व्यापता धंममहामाता च इथीझखमहामाता च वचभूमीका च अञे च निकाया [।] अयं च एतस फल य आत्पपासंडवढी च होति धंमस च दीपना [।।]

पाठ-टिप्पणी—इस लेख के अन्य संस्करणों में प्रथम पंक्ति में 'सव पासंडानि' तथा 'पवजितानि' के उपरान्त 'च' अक्षर नहीं खुदे हैं। 'विवाधाय' को 'विविधाय' पढ़ें। दूसरे 'पूजयति' के उपरान्त 'ने' अनावश्यक है। अन्य संस्करणों में 'पूजाय' के बाद 'पूजयति ने' ये दोनों ही शब्द नहीं हैं। द्वितीय पंक्ति का 'तस' दो बार खोदा गया था। बाद में प्रथम 'स' और द्वितीय 'त' मिटा दिए गए। चौथी पंक्ति में 'तेन तन' को 'तेनतेन' पढ़ें।

शब्दार्थ

पासंडानि = धार्मिक सम्प्रदायों को ; **पवजितानि** = प्रव्रजितों को, संन्यासियों को ; **घरस्तानि** = गृहस्थों को ; **विवाधाय** = विविध प्रकार से ; **न तु** = किन्तु नहीं ; **मंजते** = मन्यते, मानते हैं ; **यथा** = जितना ; **किंति** = किमिति, यह क्या ? यह कैसे ? **सारवढी**=सारवृद्धि ; **अस** = स्यात्, होवे ; **वचगुती**=वचोगुप्ति, वचन का गोपन, वाक् संयम ; **पासंड पूजा** = सम्प्रदाय की प्रशंसा; **गरहा** = गर्हा, निन्दा ; **भवे**=भवेत्, होवे ; **अप्रकरणम्हि** = अकारण, अल्प कारण से, अनुचित स्थान पर, अनुचित अवसरों पर ; **लहुका** = लघुका, थोड़ी-थोड़ी ; **पूजेतया** = पूजनीय हैं ; **एवं करं** = ऐसा करता हुआ ; **वढयति** = वर्द्धयति, वृद्धि करता है ; **तदंतअथा करोतो** = इसके विपरीत करता हुआ ; **क्षणिति** = क्षीण करता है ; **योहि कोचि** = यः हि कश्चित्, वह जो कोई ; **आत्प पासंड भतिया** = आत्म पाषण्ड भक्तया, अपने सम्प्रदाय की भक्ति के कारण ; **आत्म पासंडं दीपेयम** = अपने पासंड का दीपन किया जाए अर्थात् उसकी उन्नति की जाए ; **सोच पुन तथ करातो** = और वह पुनः ऐसा करता हुआ ; **बाढतरं** = अत्यधिक ; **उपहनाति** = हानि करता है ; **समवाय** = मेल जोल, समन्वय ; **साधु** = शुभ ; **अजमंजस** = दूसरों के ; **सुणारु** = सुनना चाहिए ; **सुसुंसेर** = सुनाना चाहिए ; **इछा**= इच्छा ; **बहुस्रुता** = बहुश्रुत ; **असु** = हों ; **कलाणागमा** = कल्याणकारी सिद्धान्त वाले ; **प्रसंना** = प्रसन्नाः, अनुरक्त ; **तेहि वतव्यं** = उनके द्वारा कहा जाय ; **बहका** = बहुका, बहुत से ; **एताय अथा** = इस प्रयोजन के लिए ; **व्यापता** = व्यापृताः, नियुक्त हैं ; **इथीझख महामाता** = स्त्र्यध्यक्ष महामात्र ; **वचभूमीका** = व्रजभूमिक ; **अञे** = अन्य ; **निकाय** = वर्ग, समूह ; **अयंच एतस फल** = इसका यह फल है ; **वढी** = वृद्धि ; **दोपना** = उन्नति, प्रकाशन ।

अनुवाद

देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा सब धार्मिक सम्प्रदायों के प्रव्रजितों और गृहस्थों को पूजते हैं, दान और विविध प्रकार की पूजा द्वारा पूजते हैं । किन्तु देवानांप्रिय दान व पूजा को उतना नहीं मानते जितना किसको ? इसको कि सब सम्प्रदायों में सारवृद्धि होवे । सारवृद्धि अनेक प्रकार की होती है । उसका मूल है वचन का गोपन (अर्थात् वाक् संयम) । कैसे ? अपने सम्प्रदाय की प्रशंसा और दूसरों के सम्प्रदाय की निन्दा अनुचित अवसरों पर नहीं होनी चाहिए, थोड़ी हो किसी-किसी उचित अवसर पर । पूजनीय है दूसरों के सम्प्रदाय उन-उन (अर्थात् सब) अवसरों पर । ऐसा करता हुआ (मनुष्य) अपने सम्प्रदाय की वृद्धि करता है । (दूसरों के) सम्प्रदाय का उपकार करता है । इसके अन्यथा (अर्थात् इसके विपरीत) करने वाला (मनुष्य) अपने सम्प्रदाय को क्षीण करता है और दूसरों के सम्प्रदाय का भी अपकार करता है । वह जो कोई अपने सम्प्रदाय की प्रशंसा करता है और दूसरों के सम्प्रदाय की निन्दा, सब अपने सम्प्रदाय के प्रति भक्ति के कारण (करता है) । यह कैसे ? 'अपने सम्प्रदाय

का दीपन किया जाय' (अर्थात् अपने सम्प्रदाय की उन्नति की जाय)। और वह पुनः ऐसा करता हुआ अपने सम्प्रदाय की अत्यधिक हानि करता है। इसलिए समवाय (अर्थात् मेलजोल) ही शुभ है। कैसे ? दूसरों के धर्म को सुनना और सुनाना चाहिए। देवानांप्रिय की ऐसी इच्छा है। कैसी ? कि सब सम्प्रदाय बहुश्रुत और कल्याणकारी सिद्धान्त वाले होंवे। और वे जो अपने-अपने (सम्प्रदाय) में अनुरक्त हों उनके द्वारा कहा जाय, 'देवानांप्रिय दान व पूजा को उतना नहीं मानते जितना किसे ? कि सब सम्प्रदायों में सार की वृद्धि होवे।' इस प्रयोजन के लिए बहुत से धर्ममहामात्र और स्त्र्यध्यक्ष महामात्र और व्रजभूमिक और अन्य (अधिकारी) वर्ग नियुक्त हैं। इसका यह फल है कि (इससे) अपने सम्प्रदाय की वृद्धि और धर्म का दीपन होता है।

व्याख्या

१. प्रस्तुत अभिलेख में 'पासंडानि' और 'पवजितानि' दोनों के उपरान्त 'च' लिखा हुआ है इसलिए इस पद का शाब्दिक अर्थ होगा : 'सभी सम्प्रदायों और प्रव्रजितों और गृहस्थों को पूजते हैं।' परन्तु इस लेख के अन्य संस्करणों में 'पासंडानि' व 'पवजितानि' के उपरान्त 'च' शब्द नहीं खुदा है। इसलिये बरुआ ने इस वाक्य का अर्थ किया है 'सब गृहस्थ और प्रव्रजित सम्प्रदायों को पूजते हैं।' स्पष्टतः वह गृहस्थों के पृथक्-पृथक् सम्प्रदाय मानते हैं। परन्तु हमारे विचार से इस वाक्य का आशय है : 'सभी सम्प्रदायों के प्रव्रजितों और गृहस्थों को पूजते हैं।' जैसा कि सर्वज्ञात है प्राचीनकाल में भारत में हर सम्प्रदाय के दो प्रकार के अनुयायी होते थे : गृहस्थ और प्रव्रजित (= संन्यासी, भिक्षु)। भाब्रु-लेख में बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणिओं तथा उपासक-उपासिकाओं का इसी अर्थ में उल्लेख है। तु०, पालि साहित्य के 'गिहिपब्बजिता' और 'गहट्ठा पब्बजिता'। तेरहवें शिलालेख में गृहस्थ पाषण्डों (सम्प्रदायों के गृहस्थ अनुयायियों) का उल्लेख है एवं ७वें स्त० लेख में प्रव्रजितों के अन्तर्गत ब्राह्मण, संघस्थ (बौद्ध भिक्षु), निर्ग्रन्थ (जैन भिक्षु) तथा आजीवक गिनाए गए हैं। उस युग के अन्य प्रमुख सम्प्रदायों का वर्णन बौद्ध साहित्य में मिलता है। उनमें तापस, जटिल, ब्राह्मण, परिव्राजक (एक दण्डी व त्रिदण्डी) देवधार्मिक (जिनमें वासुदेव, संकर्षण, अर्जुन, सूर्य, चन्द्र, दिक्पाल, मणिभद्र, आदि के उपासक शामिल थे) आदि उल्लेखनीय है।

2. **सारवढी** (शहबाजगढी संस्करण में सलवढि, काल्सी संस्करण में शाला-वढि) = सारवृद्धि = धर्म के सार में वृद्धि। बुद्धघोष ने सार को 'सीलादिसार' बताया है। अशोक के अनुसार भी धम्म का सार सील (= शील) है। प्रस्तुत शिलालेख में वह वाक्-संयम को धम्म के सार में वृद्धि का मूल बताता है।

3. **वचोगुती** (अन्य संस्करणों में 'वचो गुति') = वचन का गोपन = वाक् = संयम। यहाँ इसका अर्थ अन्य सम्प्रदायों की आलोचना न करना है जिससे धार्मिक सहिष्णुता की भावना में वृद्धि हो।

४. **अप्रकरणम्हि**—इसका अर्थ कुछ विद्वान् 'अकारण से' करते हैं, कुछ 'अल्प कारण से' कुछ 'अनुचित अवसर से', कुछ 'अनुचित स्थान पर'।

५. **समवाय** = सम्यक् प्रकार से चलना = मेलजोल। अथवा = सामवाद = संयमवाद। तु० धर्मवाय = धर्मवाद (१३ वां शिलालेख)। यह अशोक द्वारा प्रतिपादित धार्मिक सहिष्णुता का क्रियात्मक पक्ष है।

६. **बहुस्रुता** = वह जिसने भलीभाँति सुन रखा है। उस युग में जब शिक्षा मौखिक होती थी और ज्ञान परस्पर वार्तालाप द्वारा प्राप्त किया जाता था, ज्ञानी व्यक्ति को बहुश्रुत कहा जाना स्वाभाविक था, वैसे ही जैसे आजकल, पुस्तकीय ज्ञान के युग में, शिक्षित व्यक्ति को अंग्रेजी में 'वैल रेड' (बहुपठित) कहते हैं।

७. **धंममहामाता** = धर्ममहामात्राः। दे०, पञ्चम शि० ले०, टि० २।

८. **इथिधिपख महामाता** स्त्र्यध्यक्ष महामात्राः। शहबाजगढ़ी शिलालेख में 'इस्त्रिधियखमहमत्र'। कुछ ने इनका सम्बन्ध कौटिल्य के गणिकाध्यक्षों से जोड़ा है। परन्तु महामात्र जैसे उच्चपदाधिकारियों का एक वर्ग केवल गणिकाओं की ही देखभाल करता रहा होगा, यह सम्भव नहीं जान पड़ता। यद्यपि वे गणिकाओं की भी देखभाल करते हों यह हो सकता है। भाण्डारकर ने स्त्र्यध्यक्ष महामात्रों को वे पदाधिकारी माना है जो स्त्रियों के हित और सुख की देखभाल करते थे। परन्तु इनके विषय में मात्र इतना कह देना पर्याप्त नहीं है। महाकाव्यों में स्त्र्यध्यक्षों अथवा दाराध्यक्षों का उल्लेख आता है जिनका कर्त्तव्य अन्तःपुर के बाहर रानियों एवं उनकी दासियों की सुरक्षा था। पालि साहित्य में 'अन्तेपुर उपचारकों' और 'ओरोध महामत्रों' का उल्लेख मिलता है जो रनिवास के सदस्यों की देखभाल करते थे। पालि और संस्कृत बौद्ध साहित्य में उपलब्ध कथाओं में रानियों के धर्म गुरुओं की चर्चा आती है जो अपनी शिष्याओं के पास स्वतन्त्रतापूर्वक जा सकते थे। कभी-कभी जब विभिन्न रानियाँ विभिन्न धर्मों की अनुगामिनी होती थीं, अन्तःपुर धार्मिक दलों की राजनीति का अखाड़ा बन जाता था। तिष्यरक्षिता को कथाओं में उसे बौद्ध धर्म की कट्टर विरोधिनी बताया गया है। 'धम्मपदटीका' में एक ऐसी बौद्ध लड़की की कथा आती है जिसे आजीविका परिवार में ब्याह दिये जाने के कारण बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। कुछ जातक कथाओं में रानियों और धर्म-गुरुओं के प्रेम और षड्यन्त्रों का उल्लेख आता है। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में स्त्र्यध्यक्षों का उल्लेख आता है जिनका 'कामोपधाशुद्ध' रहना आवश्यक बताया गया है। उनको बाह्य और अभ्यन्तर विहार रक्षा करना होता था। 'विनय पिटक' में स्त्रियों में प्रचार करने वाले उपदेशकों का वर्णन आता है। इस प्रकार अशोक के अभिलेखों के स्त्र्यध्यक्ष महामात्रों का कार्य न केवल स्त्रियों के हित सुख की देख-भाल करना होगा वरन् उनमें विशेषतः रनिवास की सदस्याओं में धम्म का प्रचार, उनको अन्य सम्प्रदायों के सिद्धान्तों से परिचित कराना, उनको उनके सम्पर्क में

आने वाले कपटी धर्मगुरुओं के षड्यन्त्रों और अनैतिक प्रभाव से बचाना भी होगा। अशोक ने अन्यत्र ऐसे महामात्रों का उल्लेख किया भी है जो उसके और उसके भाई-बहिनों के पाटलिपुत्र व अन्य स्थानों पर स्थित अन्तःपुरों की देख भाल करते थे।

९. **वचभुमिक** = व्रजभूमिकाः। 'वचभूमिक' का शाब्दिक अर्थ है 'वह पदाधिकारी (भुमिक) जो चरागाहों (वच = व्रज) से सम्बंधित कार्यों को पूरा करता है।' मुखर्जी का अनुमान है कि ये पदाधिकारी वाणिक्पथों में व्यापारियों और धर्मयात्रियों के बीच भी धर्मप्रचार करते होंगे। कुछ विद्वानों का विचार है कि 'व्रजभुमिक' व्रज देश के निवासी थे जिनकी रुचि धर्मयात्राओं और वाद-विवादों में अधिक रहती थी। रोमिला थापर ने उनको 'राजकीय कृषि क्षेत्रों के मैनेजर' बताया है और ब्युलर तथा सरकार ने 'पशुपालकोंके बीच काम करने वाले अधिकारी'। बरुआ का कहना है कि व्रज शब्द का एक अर्थ महल का एक भवन या गोष्ठ भी है और यहाँ इसका आशय सभा, समिति अथवा परिषत् हो सकता है। उस अवस्था में वचभुमिक पदाधिकारी सामाजिक सभाओं और महलों से सम्बन्धित रहे होंगे।

१०. **निकाया**—निकाय का अर्थ है 'वर्ग'। यहाँ इसका अर्थ है 'पदाधिकारी वर्ग'। १३वें शिलालेख में यह सम्प्रदाय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अन्य पदाधिकारियों के लिए दे०, ७वाँ स्तम्भ-लेख।

त्रयोदश शिलालेख

(शहबाजगढ़ी संस्करण)

मूलपाठ

१. अठवषअभिसितस देवनप्रिअस प्रिअद्रशिस रञो कलिग विजित [।] दिअढमत्रे प्रणशतसहस्रे ये ततो अपवुढे शतसहस्रमत्रे तत्र हते बहुतवतके व मुटे [।]

२. ततो पच अधुन लधेषु कलिगेषु तिव्रे ध्रमशिलन ध्रमकमत ध्रमनुशस्ति च देवनप्रियस [।] सो अस्ति अनुसोचन देवनप्रिअस विजिनिति कलिगनि [।]

३. अविजितं हि विजिनमनो यो तत्र वध व मरणं व अपवहो व जनस तं बढं वेदनियमतं गुरुमतं च देवनंप्रियस [।] इदं पि चु ततो गुरुमततरं देवनंप्रियस [।] ये तत्र

४. वसति ब्रमण व श्रमण व अंञे व प्रषंड ग्रहथ व येसु विहित एष अग्र-भुटिसुश्रुष मतपितुषु सुश्रुष गुरुन सुश्रुष मित्रसंस्तुतसहय

५. ञतिकेषु दसभटकनं सम्मप्रतिपति द्रिढभतित तेष तत्र भोति अपग्रथो व वधो व अभिरतन व निक्रमणं [।] येष व पि सुविहितनं सिहो अविप्रहिनो ए तेष मित्रसंस्तुतसहयञतिक वसन

६. प्रपुणति तत्र तं पि तेष वो अपग्रथो भोति [।] प्रतिभगं च एतं स-व्रमनुशनं गुरुमतं च देवनं प्रियस [।] नस्ति च एकतरे पि प्रषडस्पि न नम प्रसदो [।] सो यमत्रो जनो तद कलिगे हतो च मुटो च अपवुढ च ततो

७. शतभगे व सहस्रभगं व अज गुरुमतं वो देवनंप्रियस [।] यो पि च अपकरेयति क्षमितवियमते व देवनंप्रियस यं शको क्षमनये [।] यो पि च अटवि देवनंप्रियस विजिते भोति त पि अनुनेति अनुनिजपेति [।] अनुतपे पि च प्रभवे

८. देवनंप्रियस वुचति तेष किति अवत्रपेयु न च हंयेयसु [।] इछति हि देवनंप्रियो सव्रभुतन अक्षति संयमं समचरियं रभसिये [।] अयि च मुखमुत विजये देवनंप्रियस यो ध्रमविजयो [।] सो च पुन लधो देवनं-प्रियस इह च सवेषु च अंतेषु

९. अ षषु पि योजनशतेषु यत्र अंतियोको नम योनरज परं च तेन अतियो-केन चतुरे ४ रजनि तुरमये नम अंतिकिनि नम मक नम अलिकसुदरो नम निच चोड पंड अव तंबपंणिय [।] एवमेव हिद रजविषवस्पि योनकंबोयेषु नभकनभितिन

१०. भोजपितिनिकेषु अंध्रपलिदेषु सवत्र देवनंप्रियस ध्रमनुशस्ति अनुवटंति [।] यत्र पि देवनंप्रियस दुत न व्रचति ते पि श्रुतु देवनंप्रियस ध्रमवुटं विधनं ध्रमनुशस्ति ध्रमं अनुविधियंति अनुविधियिशंति च [।] यो स लधे एतकेन भोति सवत्र विजयो सवत्र पुन

११. विजयो प्रितिरसो सो [।] लध भोति प्रिति ध्रमविजयस्पि [।] लहुक तु खो स प्रिति [।] परत्रिकमेव महफल मेञति देवनंप्रियो [।] एतये च अठये अयि ध्रमदिपि निपिस्त किति पुत्र पपोत्र मे असु नवं विजयं म विजेतविअ मञिषु एकस्पि यो विजये क्षंति च लहुदंडत च रोचेतु तं च यो विज (य) मञतु

१२. यो ध्रमविजयो [।] सो हिदलोकिको परलोकिको [।] सवचतिरति भोतु य धंमरति [।] स हि हिदलोकिक परलोकिक [।।]

पाठ-टिप्पणी—ब्युलर ने प्रथम पंक्ति में 'दिअढ' को 'दियध' पढ़ा है और वह मुटे के पूर्व 'व' को नहीं पढ़ पाए हैं। दूसरी पंक्ति में वह 'पच' को 'पछ' पढ़ते हैं, 'कलिगेषु' को 'कलिंगेषु' 'ध्रमशिलन' को 'ध्रमपलन' 'अनुसोचन' को 'अनुसोचनं', तीसरी पंक्ति में 'विजिनमनो यो' को 'विजिनमनि ये', 'वध' को 'वधो', 'इदं' को 'इयं', पाँचवी में 'द्रिढ भतित' को 'दिढ भतित' तथा छठी में 'अपघ्रथो' को 'अपग्रथो' एवं 'सव्रमनुशनं' को 'सव्रं मनुशनं'। ब्युलर ने ही आठवीं पंक्ति में रभसिये के उपरान्त अयि के स्थान पर 'एषे', नवीं में 'विषवस्पि' को 'विषवत्रि', १० वीं में 'पलिदेषु को 'पुलिदेषु' और 'विधनं' को 'विधेनं', ११ वीं में 'अयि' को 'अयो' तथा 'तं च यो' को 'तं एव' तथा १२ वीं में 'सव चतिरति' को 'सव्र च निरति' और 'ध्रमं रति' को 'स्रम रति'।

शब्दार्थ

दि अढमत्रे प्रण शतसहस्रे=डेढ लाख प्राणी अर्थात् मनुष्य ; **अपवुढे**=अपोढं, अपहृत हुए ; **हते**=आहतं, युद्ध में घायल हुए ; **वहु तवतके**=वहुतावतकं ; उतने ही संख्या में ; **मुटे**=मृतम्, मृत हुए ; **ततो पच**=उसके पश्चात् ; **अघुन**=अधुना, आज, हालहीमें ; **लधेषु कलिगेषु**=लब्धेषु कलिंगेषु, उपलब्ध अर्थात् जीते हुए कलिंग में ; **तीव्रे**=तीव्र ; **ध्रमशिलन**=धर्मशीलनं, धर्म का व्यवहार ; **ध्रमकमत**=धर्मकामना, धर्म का प्रेम ; **ध्रमनुशस्ति**=धर्मानुशस्ति, धर्म का उपदेश ; **अनुसोचन**=पश्चात्ताप ; **विजिनिति**=विजित्य, जीतकर ; **अविजितं हि विजिनमनो यो**=जो अविजित जीता जाता है ; **अपवहो**=अपवाहः, अपहरण ; **वढं**=वाढं, अत्यन्त ; **वेदनियमतं**=वेदना देने वाला ; **गुरुमतं**=गम्भीर ; **इदम् अपि तु ततः**=इससे भी अधिक ; **अंत्रे**=अन्ये ; **येषु**=जिनमें ; **विहित**=विहित हैं ; **अग्र भुटि सुश्रुष**=अग्रभृति शुश्रूषा, उच्चपदस्थ पुरुषों की शुश्रुषा ; **मित्र संस्तुत सहय**=मित्र संस्तुत सहायः, मित्र परिचित और सहायक ; **जतिकेषु**=जाति वालों में ; **दसभटकनं**=दास और भृत्यों में ; **सम्मप्रतिपति**=सम्यक् व्यवहार ; **द्रिढभतित**=दृढभक्ति ; **भोति**=भवति, होता है ; **अपग्रथो**=आघात ; **अभिरतन**=अभिरक्तानां, प्रियजनों का ; **येष वपि**=येषां वा अपि, उनके भी जो ; **सुविहितनं**=सुस्थित हैं जो उनका ; **सिहो अविप्रहिनो**=स्नेहः अविप्रहीनः, जो स्नेह से अहीन हैं अर्थात् जिनका स्नेह कम नहीं हुआ है उनका ; **वसन**=व्यसन ; **प्रपुणति**=प्राप्नुवन्ति, प्राप्त होते हैं ; **प्रतिभगं**=प्रतिभागः ; **सव्रमनुशनं**=सर्वमनुष्याणां, सब मनुष्य का ; **एकतरे पि**=एक भी ; **प्रसदो**=प्रसाद, अनुराग ; **सो यमत्रो**=यत् यन्मात्रः, इसलिये भी ; **अपकरेयति**=अपकार करता है ; **क्षमित वियमते व**=क्षन्तव्यमतम् एव, क्षन्तव्य ही है ; **शको**=शक्य ; **अटवि**=वनों में रहने वाले ; **विजिते**=साम्राज्य में ; **अनुनेति**=अनुनय करता है ; **अनुनिजपेति**=अनुनिध्याययति, बोध कराता है ; **अवत्रपेयु**=अवत्रपेरन्, संकोच करें, बचें ; **हंञेयसु**=मारे जाएँ ; **सव्रभुतन**=सर्वभूतानां, सब प्राणियों का ; **अक्षति**=कल्याण ; **समचरियं**=समाचर्यम्, अपक्षपात ; **रभसिये**=राभस्ये ; **मुखमुत**=मुख्य ; **लधो**=लब्धः ; **अंतेषु**=प्रत्यन्त देशों में, **अषषु**=आ षड्भ्यः **निच**=नीचाः, दक्षिण में स्थित ; **अव**=यावत्, तक ; **एवमेव**=इसीप्रकार ; **रजविषवस्पि**=राजविषये, राजविषय में ; **अनुवंटति**=अनुवर्तते, पालन करते हैं ; **दूत**=दूत ; **व्रचंति**=पहुँचते हैं ; **श्रतु**=श्रुत्वा, सुनकर ; **ध्रमवुटं**=धर्मोक्ति ; **विधनं**=विधान ; **अनुविधियंति**=आचरण करते हैं ; **अनुविधियिशंति**=आचरण करते रहेंगे ; **एतकेन**=इस प्रकार से ; **विजयोप्रितिरसो**=प्रेम रसयुक्त विजय ; **लहुक**=लघुका, लघु ; **परत्रिकमेव**=पारलौकिक (सुख को) ही ; **महफल**=महाफल ; **मेजति**=मन्यते, मानते हैं ; **एतये च अठये**=एतस्मै च अर्थाय, इस प्रयोजन के लिए ; **ध्रमदिपि**=धर्मलिपि ; **निपिस्त**=निवेशिता, लिखवाई गई ; **क्षति**=क्षान्ति ; **लहुदंडत**=लघुदण्डता ।

अनुवाद

आठ वर्ष से अभिषिक्त देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा द्वारा कलिंगों (अर्थात्

कलिंगदेश) को जीता गया। डेढ लाख मनुष्य वहाँ से अपहृत हुए, एक लाख वहाँ हत हुए (अर्थात् युद्ध में मारे गए) और उतनी ही संख्या में मृत हुए। उसके वाद हाल में जीते गए कलिंग में देवानांप्रिय का धर्म-व्यवहार, धर्म-प्रेम और धर्मोपदेश तीव्र हुआ (अर्थात् देवानांप्रिय ने वहाँ तीव्र रूप से धर्म-व्यवहार, धर्म-प्रेम और धर्मोपदेश किया)। कलिंग को जीतकर देवानांप्रिय को अनुताप है। जब कोई अविजित (देश) जीता जाता है, वहाँ लोगों का वध, मरण और अपहरण होता है; यह देवानांप्रिय के लिए अत्यन्त वेदना देने वाली और गम्भीर (बात) है। इससे भी अधिक गम्भीर (बात) देवानांप्रिय के लिए (यह) है। वहाँ जो ब्राह्मण और श्रमण और अन्य तथा सम्प्रदायों के गृहस्थ अनुयायी रहते हैं—जिनमें उच्चपदस्थ जनों की शुश्रुषा, माता-पिता की शुश्रुषा, गुरुओं की शुश्रुषा (एवं) मित्रों, परिचितों, सहायकों, जाति वालों, दासभृतकों के प्रति सम्यक्-व्यवहार (और) दृढ भक्ति पाई जाती है—उनमें भी आघात, वध और प्रियजनों का निष्कासन पाया जाता है। उन लोगों के भी, जो सुस्थित (अर्थात् सुख से स्थित) हैं (और) जिनका स्नेह कम नहीं हुआ है (अर्थात् वे लोग जो युद्ध के प्रभाव से बच कर सुखी जीवन व्यतीत कर सकते हैं), मित्र, परिचित और जाति वाले व्यसन को प्राप्त होते हैं और तब वहाँ (अर्थात् व्यसन को प्राप्त होने पर) उन पर भी आघात होता है। यह सब मनुष्यों का भाग्य है और देवानांप्रिय के लिए गंभीर (बात) है। एक भी सम्प्रदाय (ऐसा) नहीं है जिसमें (लोगों का) अनुराग न हो। इसलिए जितने भी लोग उस समय कलिंग में हत और मृत और अपहृत हुए उनका शतभाग या सहस्रभाग भी आज देवानांप्रिय के लिए गंभीर (बात) है।

और यदि कोई उपकार भी करता है, देवानांप्रिय के लिए (वहां तक) क्षन्तव्य है जहां तक क्षमा करना शक्य है। जो भी अटवी जन (अर्थात् वनवासी) देवानांप्रिय के राज्य में (रहते) हैं उन पर भी वह अनुग्रह करता है (और उनको) (कर्त्तव्य का) बोध कराता है। देवानांप्रिय का अनुताप और प्रभाव (अर्थात् प्रताप) उनको बताया जाना चाहिए। क्यों ?—(जिससे वे) गुरुतर राजापकार करने से बचें और (ऐसे अपराध करके) मारे न जाएं। देवानांप्रिय सब प्राणियों के कल्याण, संयम, समाचर्या और सौजन्य की इच्छा करते हैं। देवानांप्रिय के अनुसार वही प्रधान विजय है जो धर्मविजय है। और वह देवानांप्रिय द्वारा पुनः प्राप्त हुई है यहाँ (अर्थात् उसके अपने राज्य में) और सभी प्रत्यन्त राज्यों में छः सौ योजन तक जहाँ अन्तियोक नामका यवनराज और उस अन्तियोक के परे चार राजा तुरमय नामक, अंतकिनि नामक मक नामक अलिकसुदर नामक (शासन करते हैं। तथा) नीचे (अर्थात् दक्षिण की ओर) चोडों (=चोलों), पंडों (=पाण्ड्यों), तंवपणिकों (ताम्रपर्णी वासियों) तक। इसी प्रकार यहाँ राजविषयों में (तथा) योन-कंबोयों (= यवनकम्बोजों), नभक नभितिनों (= नाभक-नाभपंतियों), भोज पितिनिकों (= भोज-पैत्र्यणिकों), अंधपलिदों (= अन्ध्रपुलिन्दों) में सर्वत्र देवानांप्रिय की

धर्मानुशस्ति (उसके द्वारा प्रतिपादित धर्म के उपदेशों) का (लोगों द्वारा) पालन किया जाता है। वहाँ भी जहाँ देवानांप्रिय के दूत नहीं पहुँचते, (लोग) देवानांप्रिय की धर्मोक्ति, विधान और धर्मानुशस्ति को सुनकर धर्म का आचरण करते हैं और करते रहेंगे। इस प्रकार सर्वत्र जो विजय उपलब्ध होती है, वह सर्वत्र पुनः प्रेम रसयुक्त विजय होती है। धर्मविजय में प्रीति प्राप्त होती है। परन्तु वह प्रीति बहुत लघु होती है। देवानांप्रिय (धर्मविजय का) महाफल पारलौकिक (सुखको) ही मानते हैं। इस प्रयोजन के लिए यह धर्मलिपि लिखवाई गई। क्यों ?—(इसलिए कि) मेरे पुत्र (और) पौत्र जो हों वे नई (शस्त्र) विजय को विजय न मानें। यदि वे नई विजय में प्रवृत्त हों तो वे क्षान्ति और लघुदण्डता में रुचि रखें। और उसी को विजय मानना चाहिए जो धर्म विजय है। वह इहलौकिक और पारलौकिक है। जो धर्मरति है वही पूर्णतः अतिरति है। वही इहलौकिकी और पारलौकिकी है।

व्याख्या

(१) **बहु तवतके व मुटे**—हूल्त्ज़ ने इसका अर्थ किया है 'उसके कई गुने मृत हुए'। रो० थापर ने हूल्त्ज़ का अनुसरण किया है। रा० व० पाण्डेय ने एक स्थल पर इसका अर्थ किया है 'बहुत से मारे गए' (अशोक के अभिलेख, पृ० १९), दूसरे पर 'उससे भी अधिक मरे' (वही, पृ० ३८) और तीसरे स्थल पर 'उससे कई गुना हुए' (वही, पृ० ५९)। बरुआ के अनुसार इस पंक्ति में पहिले वन्दी बनाए गए की संख्या दी गई है, फिर आहतों की और प्रस्तुत पद में मृतकों की जो पिछली ों से ज्यादा नहीं हो सकती थी। इसलिए वह इस पद का अर्थ करते हैं 'उतनी या में मरे'। यह संख्या घायलों की संख्या के बराबर भी मानी जा सकती है घायलों और अपहृतों की संख्याओं के योग के बराबर भी। हमें बरुआ का मत ही प्रतीत होता है।

(२) **कलिग** = कलिंगाः। बहुवचनान्त 'कलिंगः' का प्रयोग देश के अर्थ में हुआ है। बंगाल की खाड़ी के किनारे महानदी और गोदावरी का मध्यवर्ती प्रदेश। प्लिनी ने इसे तीन भागों में विभक्त किया है—कलिंग, मध्यकलिंग और महाकलिंग। प्राचीन अभिलेखों में त्रिकलिंग का उल्लेख आता है। रा० ला० मित्र के अनुसार प्लिनी के तीनों कलिंग मिलकर त्रिकलिंग कहलाते थे। महाकलिंग=उत्कलिंग=उत्कल। कलिंग नन्दों के युग में मागध-साम्राज्य का अंग था (दे०, खारवेल का हाथिगुम्फा-लेख)। नन्दों के बाद और अशोक के पूर्व यह कभी स्वतन्त्र हो गया था। सरकार के अनुसार अशोक युग में यह पुरी-कटक प्रदेश से गन्जाम-सिरीकाकुलम तक विस्तृत था।

(३) **अपवुढे**=अपोढं=(बन्दी रूप में) ले जाए गए। इतनी बड़ी संख्या में बन्दियों को जेलों में रखना बहुत कठिन था। तु०, आधुनिक काल में भारत में ९०,००० पाकिस्तानी बन्दियों को जेलों में रखने में उत्पन्न होने वाली कठिनाइयाँ।

कलिंगदेश) को जीता गया। डेढ लाख मनुष्य वहाँ से अपहृत हुए, एक लाख वहाँ हत हुए (अर्थात् युद्ध में मारे गए) और उतनी ही संख्या में मृत हुए। उसके बाद हाल में जीते गए कलिंग में देवानांप्रिय का धर्म-व्यवहार, धर्म-प्रेम और धर्मोपदेश तीव्र हुआ (अर्थात् देवानांप्रिय ने वहाँ तीव्र रूप से धर्म-व्यवहार, धर्म-प्रेम और धर्मोपदेश किया)। कलिंग को जीतकर देवानांप्रिय को अनुताप है। जब कोई अविजित (देश) जीता जाता है, वहाँ लोगों का वध, मरण और अपहरण होता है ; यह देवानांप्रिय के लिए अत्यन्त वेदना देने वाली और गम्भीर (बात) है। इससे भी अधिक गम्भीर (बात) देवानांप्रिय के लिए (यह) है। वहाँ जो ब्राह्मण और श्रमण और अन्य तथा सम्प्रदायों के गृहस्थ अनुयायी रहते हैं—जिनमें उच्चपदस्थ जनों की शुश्रुषा, माता-पिता की शुश्रुषा, गुरुओं की शुश्रुषा (एवं) मित्रों, परिचितों, सहायकों, जाति वालों, दासभृतकों के प्रति सम्यक्-व्यवहार (और) दृढ भक्ति पाई जाती है—उनमें भी आघात, वध और प्रियजनों का निष्कासन पाया जाता है। उन लोगों के भी, जो सुस्थित (अर्थात् सुख से स्थित) हैं (और) जिनका स्नेह कम नहीं हुआ है (अर्थात् वे लोग जो युद्ध के प्रभाव से बच कर सुखी जीवन व्यतीत कर सकते हैं), मित्र, परिचित और जाति वाले व्यसन को प्राप्त होते हैं और तब वहाँ (अर्थात् व्यसन को प्राप्त होने पर) उन पर भी आघात होता है। यह सब मनुष्यों का भाग्य है और देवानांप्रिय के लिए गंभीर (बात) है। एक भी सम्प्रदाय (ऐसा) नहीं है जिसमें (लोगों का) अनुराग न हो। इसलिए जितने भी लोग उस समय कलिंग में हत और मृत और अपहृत हुए उनका शतभाग या सहस्रभाग भी आज देवानांप्रिय के लिए गंभीर (बात) है।

और यदि कोई उपकार भी करता है, देवानांप्रिय के लिए (वहां तक) क्षन्तव्य है जहां तक क्षमा करना शक्य है। जो भी अटवी जन (अर्थात् वनवासी) देवानांप्रिय के राज्य में (रहते) हैं उन पर भी वह अनुग्रह करता है (और उनको) (कर्त्तव्य का) बोध कराता है। देवानांप्रिय का अनुताप और प्रभाव (अर्थात् प्रताप) उनको बताया जाना चाहिए। क्यों ?—(जिससे वे) गुरुतर राजापकार करने से बचें और (ऐसे अपराध करके) मारे न जाएं। देवानांप्रिय सब प्राणियों के कल्याण, संयम, समाचर्या और सौजन्य की इच्छा करते हैं। देवानांप्रिय के अनुसार वही प्रधान विजय है जो धर्मविजय है। और वह देवानांप्रिय द्वारा पुनः प्राप्त हुई है यहाँ (अर्थात् उसके अपने राज्य में) और सभी प्रत्यन्त राज्यों में छः सौ योजन तक जहाँ अन्तियोक नामका यवनराज और उस अन्तियोक के परे चार राजा तुरमय नामक, अंतकिनि नामक मक नामक अलिकसुदर नामक (शासन करते हैं। तथा) नीचे (अर्थात् दक्षिण की ओर) चोडों (=चोलों), पंडों (=पाण्ड्यों), तंबपणिकों (ताम्रपर्णी वासियों) तक। इसी प्रकार यहाँ राजविषयों में (तथा) योन-कंबोयों (=यवनकम्बोजों), नभक नभितिनों (=नाभक-नाभपंतियों), भोज पितिनिकों (=भोज-पैत्र्यणिकों), अंधपलिदों (=अन्ध्रपुलिन्दों) में सर्वत्र देवानांप्रिय

धर्मानुशस्ति (उसके द्वारा प्रतिपादित धर्म के उपदेशों) का (लोगों द्वारा) पालन किया जाता है। वहाँ भी जहाँ देवानांप्रिय के दूत नहीं पहुँचते, (लोग) देवानांप्रिय की धर्मोक्ति, विधान और धर्मानुशस्ति को सुनकर धर्म का आचरण करते हैं और करते रहेंगे। इस प्रकार सर्वत्र जो विजय उपलब्ध होती है, वह सर्वत्र पुनः प्रेम रसयुक्त विजय होती है। धर्मविजय में प्रीति प्राप्त होती है। परन्तु वह प्रीति बहुत लघु होती है। देवानांप्रिय (धर्मविजय का) महाफल पारलौकिक (सुखको) ही मानते हैं। इस प्रयोजन के लिए यह धर्मलिपि लिखवाई गई। क्यों ?—(इसलिए कि) मेरे पुत्र (और) पौत्र जो हों वे नई (शस्त्र) विजय को विजय न मानें। यदि वे नई विजय में प्रवृत्त हों तो वे क्षान्ति और लघुदण्डता में रुचि रखें। और उसी को विजय मानना चाहिए जो धर्म विजय है। वह इहलौकिक और पारलौकिक है। जो धर्मरति है वही पूर्णतः अतिरति है। वही इहलौकिकी और पारलौकिकी है।

व्याख्या

(१) **बहु तवतके व मुटे**—हूल्त्ज़ ने इसका अर्थ किया है 'उसके कई गुने मृत हुए'। रो० थापर ने हूल्त्ज़ का अनुसरण किया है। रा० ब० पाण्डेय ने एक स्थल पर इसका अर्थ किया है 'बहुत से मारे गए' (अशोक के अभिलेख, पृ० १९), दूसरे पर 'उससे भी अधिक मरे' (वही, पृ० ३८) और तीसरे स्थल पर 'उससे कई गुना मृत हुए' (वही, पृ० ५९)। बरुआ के अनुसार इस पंक्ति में पहिले बन्दी बनाए गए लोगों की संख्या दी गई है, फिर आहतों की और प्रस्तुत पद में मृतकों की जो पिछली संख्याओं से ज्यादा नहीं हो सकती थी। इसलिए वह इस पद का अर्थ करते हैं 'उतनी ही संख्या में मरे'। यह संख्या घायलों की संख्या के बराबर भी मानी जा सकती है और घायलों और अपहृतों की संख्याओं के योग के बराबर भी। हमें बरुआ का मत सही प्रतीत होता है।

(२) **कलिग** = कलिंगाः। बहुवचनान्त 'कलिंगः' का प्रयोग देश के अर्थ में हुआ है। बंगाल की खाड़ी के किनारे महानदी और गोदावरी का मध्यवर्ती प्रदेश। प्लिनी ने इसे तीन भागों में विभक्त किया है—कलिंग, मध्यकलिंग और महाकलिंग। प्राचीन अभिलेखों में त्रिकलिंग का उल्लेख आता है। रा० ला० मित्र के अनुसार प्लिनी के तीनों कलिंग मिलकर त्रिकलिंग कहलाते थे। महाकलिंग=उत्कलिंग=उत्कल। कलिंग नन्दों के युग में मागध-साम्राज्य का अंग था (दे०, खारवेल का हाथिगुम्फा-लेख)। नन्दों के बाद और अशोक के पूर्व यह कभी स्वतन्त्र हो गया था। सरकार के अनुसार अशोक युग में यह पुरी-कटक प्रदेश से गञ्जाम-सिरीकाकुलम तक विस्तृत था।

(३) **अपवुढे**=अपोढं=(बन्दी रूप में) ले जाए गए। इतनी बड़ी संख्या में बन्दियों को जेलों में रखना बहुत कठिन था। तु०, आधुनिक काल में भारत में ९०,००० पाकिस्तानी बन्दियों को जेलों में रखने में उत्पन्न होने वाली कठिनाइयाँ।

कलिंगदेश) को जीता गया। डेढ लाख मनुष्य वहाँ से अपहृत हुए, एक लाख वहाँ हत हुए (अर्थात् युद्ध में मारे गए) और उतनी ही संख्या में मृत हुए। उसके बाद हाल में जीते गए कलिंग में देवानांप्रिय का धर्म-व्यवहार, धर्म-प्रेम और धर्मोपदेश तीव्र हुआ (अर्थात् देवानांप्रिय ने वहाँ तीव्र रूप से धर्म-व्यवहार, धर्म-प्रेम और धर्मोपदेश किया)। कलिंग को जीतकर देवानांप्रिय को अनुताप है। जब कोई अविजित (देश) जीता जाता है, वहाँ लोगों का वध, मरण और अपहरण होता है ; यह देवानांप्रिय के लिए अत्यन्त वेदना देने वाली और गम्भीर (बात) है। इससे भी अधिक गम्भीर (बात) देवानांप्रिय के लिए (यह) है। वहाँ जो ब्राह्मण और श्रमण और अन्य तथा सम्प्रदायों के गृहस्थ अनुयायी रहते हैं—जिनमें उच्चपदस्थ जनों की शुश्रुषा, माता-पिता की शुश्रुषा, गुरुओं की शुश्रुषा (एवं) मित्रों, परिचितों, सहायकों, जाति वालों, दासभृतकों के प्रति सम्यक्-व्यवहार (और) दृढ भक्ति पाई जाती है—उनमें भी आघात, वध और प्रियजनों का निष्कासन पाया जाता है। उन लोगों के भी, जो सुस्थित (अर्थात् सुख से स्थित) हैं (और) जिनका स्नेह कम नहीं हुआ है (अर्थात् वे लोग जो युद्ध के प्रभाव से बच कर सुखी जीवन व्यतीत कर सकते हैं), मित्र, परिचित और जाति वाले व्यसन को प्राप्त होते हैं और तब वहाँ (अर्थात् व्यसन को प्राप्त होने पर) उन पर भी आघात होता है। यह सब मनुष्यों का भाग्य है और देवानांप्रिय के लिए गंभीर (बात) है। एक भी सम्प्रदाय (ऐसा) नहीं है जिसमें (लोगों का) अनुराग न हो। इसलिए जितने भी लोग उस समय कलिंग में हत और मृत और अपहृत हुए उनका शतभाग या सहस्रभाग भी आज देवानांप्रिय के लिए गंभीर (बात) है।

और यदि कोई उपकार भी करता है, देवानांप्रिय के लिए (वहां तक) क्षन्तव्य है जहां तक क्षमा करना शक्य है। जो भी अटवी जन (अर्थात् वनवासी) देवानांप्रिय के राज्य में (रहते) हैं उन पर भी वह अनुग्रह करता है (और उनको) (कर्त्तव्य का) बोध कराता है। देवानांप्रिय का अनुताप और प्रभाव (अर्थात् प्रताप) उनको बताया जाना चाहिए। क्यों ?—(जिससे वे) गुरुतर राजापकार करने से बचें और (ऐसे अपराध करके) मारे न जाएं। देवानांप्रिय सब प्राणियों के कल्याण, संयम, समाचर्या और सौजन्य की इच्छा करते हैं। देवानांप्रिय के अनुसार वही प्रधान विजय है जो धर्मविजय है। और वह देवानांप्रिय द्वारा पुनः प्राप्त हुई है यहाँ (अर्थात् उसके अपने राज्य में) और सभी प्रत्यन्त राज्यों में छः सौ योजन तक जहाँ अन्तियोक नामका यवनराज और उस अन्तियोक के परे चार राजा तुरमय नामक, अंतकिनि नामक मक नामक अलिकसुदर नामक (शासन करते हैं। तथा) नीचे (अर्थात् दक्षिण की ओर) चोडों (=चोलों), पंडों (=पाण्ड्यों), तंबपणिकों (ताम्रपर्णी वासियों) तक। इसी प्रकार यहाँ राजविषयों में (तथा) योन-कंबोयों (= यवनकम्बोजों), नभक नभितिनों (= नाभक-नाभपंतियों), भोज पितिनिकों (= भोज-पैत्र्यणिकों), अंधपलिदों (= अन्ध्रपुलिन्दों) में सर्वत्र देवानांप्रिय की

में शस्त्र प्रयोग, कम से कम नए प्रदेशों को जीतने के लिए, पूर्णतः वर्जित था। उसने स्वयं कलिंग विजय के बाद कोई प्रदेश नहीं जीता। उल्टे वह पड़ोसी स्वतन्त्र राज्यों को उनके प्रति अपनी शुभकामनाओं का विश्वास दिलाता है और उन्हें आश्वासन देता है कि यह 'उद्विग्न न हों, मुझसे आश्वस्त हों। मुझसे सुख प्राप्त करें दुख नहीं' (द्वितीय पृथक् कलिंग शि० ले०)। अपने साम्राज्य में भी वह अटवि जनों को अपने प्रताप के साथ पश्चात्ताप का स्मरण दिलाता है। लेकिन उसके शब्दों में उनके व अन्तों के प्रति एक चेतावनी भी छिपी है : "क्षमा करेंगे राजा जहाँ तक क्षमा करना शक्य है" (प्रस्तुत लेख एवं द्वितीय पृथक् कलिंग शि० ले०)। स्पष्ट है वह अपनी शक्ति व प्रताप से परिचित था लेकिन चाहता था कि लोग यह बात समझें कि वह यथा शक्ति धैर्य रखेगा और उन्हें क्षमा करेगा। प्रश्न उठता है कि उसकी इस नीति का साम्राज्य पर क्या प्रभाव पड़ा। 'गार्गी संहिता' के लेखक ने अशोक के कुछ ही दशक उपरान्त इस नीति को अपनाने के कारण शालिशूक को 'मोहात्मा' (=मूर्ख) कहा था (स्थापयिष्यति मोहात्मा विजयं नाम धार्मिकम्)। उसका यह निर्णय जो अशोक पर भी लागू होता है, सत्य से अतिदूर नहीं था क्योंकि अशोक निश्चय ही यह समझ बैठा था कि उसकी इस नीति से एक वर्ष से कुछ ही अधिक समय में पृथिवी पर मानो स्वर्ग उतर आया था और देवता और मनुष्य अमिश्र हो गए थे (दे०, रूपनाथ ल० शि० ले० की टिप्पणी) अन्यत्र भी वह अपनी धर्मविजय नीति की सफलता का अतिरञ्जित वर्णन करता है। लेकिन जैसा कि रायचौधुरी ने कहा है शस्त्र विजय की नीति के परित्याग से "साम्राज्य की सामरिक क्षमता अवश्य ही घटी होगी।" इस मत के विरुद्ध बरुआ आदि का आग्रह है कि इस बात का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है कि अशोक ने अपनी सेनाएँ भंग कर दी थीं। उल्टे वह अटवि जनों को अपने प्रताप का स्मरण दिला कर अपनी सैनिक क्षमता की ओर संकेत करता है। लेकिन हमारे विचार से प्रश्न यह नहीं है कि उसने सेनाएँ भंग कर दी थीं या नहीं। प्रश्न इस बात का है कि उसने और अधिक प्रदेशों को जीतने के लिए सेनाओं का प्रयोग करना बन्द कर दिया। इससे सेनाओं की व्यवहार-कुशलता, युद्ध-प्रियता एवं क्षमता अवश्य घटी होगी। जैसा कि सर्वज्ञात है धन के समान राज्य भी या तो बढ़ता है या घटता है, कभी यथावत् नहीं रहता। जो सेना दो चार दशक तक युद्ध नहीं करेगी वह युद्ध का अनुभव कैसे प्राप्त करेगी और फिर अवसर पड़ने पर लड़ेगी क्या ? स्वतन्त्र भारत को इस नीति का खट्टा फल एक बार चखना पड़ा था। इतिहास का सामान्य विद्यार्थी भी जानता है कि सभी देशों में अपने अस्तित्व को बनाए रखने के इच्छुक सम्राट् अपने साम्राज्य की रक्षा साम्राज्य की सीमाओं के परे करते थे। रोमक सम्राट् सदैव अपनी सीमाओं के बाहर पश्चिमी एशिया, फ्रान्स, जर्मनी और अफ्रीका में लड़े, चीनी नरेश थाइलैण्ड, सिंक्यांग और तिब्बत में तथा ईरानी शासक यूनान और भारत में। आज भी चीन, रूस तथा अमेरिका आदि की यही नीति है। अशोक ने धर्म विजय की नीति अपनाकर सेनाएँ

(४) **तिव्रे ध्रमशिलन**—काल्सी संस्करण में 'तिवे धम्मवाये'। अशोक का आशय है कि किस प्रकार कलिंग युद्ध के उपरान्त उसमें तीव्र धर्मशील जाग्रत हुआ। जैसा कि रायचौधुरी ने सुझाया है कि यह प्रवृत्ति अशोक में पहिले से ही थी, कलिंग युद्ध के कारण केवल तीव्र हो गई थी।

(५) **अग्रभुटि सुश्रुष**—ब्युलर ने 'अग्रभुटि' का अर्थ 'अग्रजन्मा=ब्राह्मण' किया है, हूल्त्ज़ ने 'अग्रभृति (अधिक वेतन) पाने वाले' तथा मुखर्जी ने 'अग्रणी'। इनमें हूल्त्ज़ का मत निश्चय ही गलत है क्योंकि इसी लेख में आगे 'भृति' के लिए 'भटक' शब्द का प्रयोग है।

(६) **य पि च अटवि देवनं पियस विजिते भोति**—यहाँ अशोक ने अपने साम्राज्य की समस्त वनवासी और पर्वतीय जातियों की ओर, जो लूटपाट करके जीवन यापन करती थी, संकेत किया लगता है, समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति के समान आटविक राज्यों की ओर नहीं। जातकों से स्पष्ट है कि आटविक जातियाँ सभी प्रदेशों में थीं। अशोक ने उनकी शक्ति का संयत रूप से प्रयोग करके नियन्त्रित रखने की चेष्टा की। बुद्धघोष की 'अट्ठसालिनी' में ऐसे 'प्रचन्तवासिनोमहामत्ता' (=अशोक के अन्त-महामत्ता) का उल्लेख है जो डाकुओं, चोरों, लुटेरों का, जो पर्वतों में घुसकर शरण लेते थे (पव्वतं पविसिंसु), कठोरता से दमन करते थे।

(७) **अनुतपे पि च प्रभवे**= 'अनुताप और प्रभाव'। अनुताप इसलिए कि उपद्रवियों को दण्डित करना पड़ता था और 'प्रभाव' उनको दण्डित कर सकने की शक्ति।

(८) **ध्रमविजय** = धम्मविजय = धर्मविजय। यहाँ 'धर्म विजय' शब्द 'सरसक विजय' = 'शर विजय' अर्थात् 'शस्त्र विजय' का विलोमार्थक है। अशोक की धर्म विजय के दो पक्ष थे—एक निषेधात्मक जिसमें आक्रमक सैनिकवाद को त्यागने और शस्त्र प्रयोग के समय भी सहनशीलता व संयम से काम लेने की भावना निहित थी और दूसरा सकारात्मक पक्ष जिसमें द्वितीय शि० ले०, सप्तम स्त० ले० व रानी के लेख आदि में परिगणित जनहित के कार्यों को करने एवं धर्म प्रचार के लिए दूत भेजने पर बल दिया गया था। रायचौधुरी के अनुसार अशोक की धर्मविजय का आदर्श वही था जिसे 'चक्कवत्ती सीहनाद सुत्त' में 'बिना दण्ड और शस्त्र के द्वारा, धर्म द्वारा विजय' (अदण्डेन असत्येन धम्मेन अभिविजय) कहा गया है। यह 'महाभारत' (११· ५९.३८-९) 'हरिवंश' (१.४१.१२), 'अर्थशास्त्र' (१२.१) तथा 'रघुवंश' (४.४३) में वर्णित हिन्दू धर्मविजय से भिन्न आदर्श था। यहाँ एरियन का यह कथन कि भारतीय नरेशों को उनकी न्याय-भावना भारत के बाहर विजय प्राप्त करने से रोकती थी, अनायास स्मरण हो आता है। हिन्दू धर्म विजय के आदर्श में शस्त्र प्रयोग वर्जित नहीं था, विजित राज्यों को साम्राज्य में मिलाना वर्जित था। अशोक की धर्मविजय

में शस्त्र प्रयोग, कम से कम नए प्रदेशों को जीतने के लिए, पूर्णतः वर्जित था। उसने स्वयं कलिंग विजय के बाद कोई प्रदेश नहीं जीता। उल्टे वह पड़ोसी स्वतन्त्र राज्यों को उनके प्रति अपनी शुभकामनाओं का विश्वास दिलाता है और उन्हें आश्वासन देता है कि वह 'उद्विग्न न हों, मुझसे आश्वस्त हों। मुझसे सुख प्राप्त करें दुख नहीं' (द्वितीय पृथक् कलिंग शि० लें०)। अपने साम्राज्य में भी वह अटवि जनों को अपने प्रताप के साथ पश्चात्ताप का स्मरण दिलाता है। लेकिन उसके शब्दों में उनके व अन्तों के प्रति एक चेतावनी भी छिपी है : "क्षमा करेंगे राजा जहाँ तक क्षमा करना शक्य है" (प्रस्तुत लेख एवं द्वितीय पृथक् कलिंग शि० ले०)। स्पष्ट है वह अपनी शक्ति व प्रताप से परिचित था लेकिन चाहता था कि लोग यह बात समझें कि वह यथा शक्ति धैर्य रखेगा और उन्हें क्षमा करेगा। प्रश्न उठता है कि उसकी इस नीति का साम्राज्य पर क्या प्रभाव पड़ा। 'गार्गी संहिता' के लेखक ने अशोक के कुछ ही दशक उपरान्त इस नीति को अपनाने के कारण शालिशूक को 'मोहात्मा' (=मूर्ख) कहा था (स्थापयिष्यति मोहात्मा विजयं नाम धार्मिकम्)। उसका यह निर्णय जो अशोक पर भी लागू होता है, सत्य से अतिदूर नहीं था क्योंकि अशोक निश्चय ही यह समझ बैठा था कि उसकी इस नीति से एक वर्ष से कुछ ही अधिक समय में पृथिवी पर मानो स्वर्ग उतर आया था और देवता और मनुष्य अमिश्र हो गए थे (दे०, रूपनाथ ल० शि० ले० की टिप्पणी) अन्यत्र भी वह अपनी धर्मविजय नीति की सफलता का अतिरञ्जित वर्णन करता है। लेकिन जैसा कि रायचौधुरी ने कहा है शस्त्र विजय की नीति के परित्याग से "साम्राज्य की सामरिक क्षमता अवश्य ही घटी होगी।" इस मत के विरुद्ध बरुआ आदि का आग्रह है कि इस बात का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है कि अशोक ने अपनी सेनाएँ भंग कर दी थीं। उल्टे वह अटवि जनों को अपने प्रताप का स्मरण दिला कर अपनी सैनिक क्षमता की ओर संकेत करता है।लेकिन हमारे विचार से प्रश्न यह नहीं है कि उसने सेनाएँ भंग कर दी थीं या नहीं। प्रश्न इस बात का है कि उसने और अधिक प्रदेशों को जीतने के लिए सेनाओं का प्रयोग करना बन्द कर दिया। इससे सेनाओं की व्यवहार-कुशलता, युद्ध-प्रियता एवं क्षमता अवश्य घटी होगी। जैसा कि सर्वज्ञात है धन के समान राज्य भी या तो बढ़ता है या घटता है, कभी यथावत् नहीं रहता। जो सेना दो चार दशक तक युद्ध नहीं करेगी वह युद्ध का अनुभव कैसे प्राप्त करेगी और फिर अवसर पड़ने पर लड़ेगी क्या ? स्वतन्त्र भारत को इस नीति का खट्टा फल एक बार चखना पड़ा था। इतिहास का सामान्य विद्यार्थी भी जानता है कि सभी देशों में अपने अस्तित्व को बनाए रखने के इच्छुक सम्राट् अपने साम्राज्य की रक्षा साम्राज्य की सीमाओं के परे करते थे। रोमक सम्राट् सदैव अपनी सीमाओं के बाहर पश्चिमी एशिया, फ्रान्स, जर्मनी और अफ्रीका में लड़े, चीनी नरेश थाइलैण्ड, सिक्यांग और तिब्बत में तथा ईरानी शासक यूनान और भारत में। आज भी चीन, रूस तथा अमेरिका आदि की यही नीति है। अशोक ने धर्म विजय की नीति अपनाकर सेनाएँ

चाहे भंग न की हों, परन्तु साम्राज्य के प्रसार की प्रक्रिया को अवश्य ही रोक दिया और "जब तक कोई शत्रु हम पर आक्रमण नहीं करता तब तक हमें लड़ने की क्या आवश्यकता"—यह घातक नीति अपनाई। इसके बाद मौर्य साम्राज्य की नींव लड़खड़ाना केवल समय की बात रह गई क्योंकि जब सेनाओं के लड़ने का अभ्यास छूट गया तो वे आक्रमणकारी शत्रुओं का सामना करने में स्वतः असमर्थ हो गईं। निष्कर्षतः अशोक की धर्म विजय की नीति को मौर्य साम्राज्य की अवनति का काफी महत्त्वपूर्ण कारण माना जाना चाहिए।

(९) **अंतियोको, तुरमय, अंतकिनि, मक, अलिकसुंदरो**—ये अशोक के पाँच पड़ोसी यूनानी राजाओं के नाम हैं। इनमें अंतियोक का उल्लेख द्वितीय शि० ले० में भी हुआ है। अन्य योन राजाओं का वहां विना नाम दिए अंतियोक के पड़ोसियों के रूप में उल्लेख है। यहाँ अंतियोक के राज्य के छः सौ योजन दूरी के अन्दर बताया गया है और शेष योन राज्यों को अंतियोक के राज्य के परे। दोनों ही स्थलों पर अंतियोक अशोक का निकटतम पड़ोसी है। **अंतियोक**=द्वितीय एण्टियोकस थियोस, सीरिया नरेश (२६१-४६ ई० पू०)। वह सेल्युकस निकाटोर (३१२-२८० ई० पू०) का पौत्र और प्रथम एण्टियोकस सोटर (२८०-६१ ई० पू०) का पुत्र था। **तुरमय**= मिस्र का यूनानी राजा द्वितीय तालेमी फिलाडेल्फस (२८५–२४७ ई० पू०)। **अंतिकिनी**=मेसिडोनिया नरेश एण्टिगोनस गोनेटस (२७६–४६ ई० पू०)। **मक**= उत्तरी अफ्रीका के सीरीन राज्य का स्वामी मगस (३००–२५८ अथवा २५० ई० पू० तक) जो तालेमी का सौतेला भाई था। अलिकसुंदर=अलेक्ज़ेण्डर, एपिरस का राजा (२७२–२५८ या २५५ तक)। कुछ विद्वान् उसे कोरिंथ-नरेश अलेक्ज़ेण्डर मानते हैं जिसने २५२ से २४४ ई० पू० तक शासन किया। परन्तु यह असम्भव है। ये सभी राजा सिकन्दर के सेनापतियों के वंशज थे। अशोक ने उनके राज्यों में दूत भेजकर वस्तुतः कितनी सफलता अर्जित की कहना कठिन है। रीज डेविड्स को इसमें बहुत शंका थी कि यूनानियों ने अशोक की धर्म विजय को गम्भीरता से लिया होगा जबकि रायचौधुरी, मुखर्जी, भण्डारकर और बरुआ आदि अशोक के दावे को उसकी इस क्षेत्र में यथार्थ सफलता पर आधारित मानते हैं।

चतुर्दश शिलालेख

(गिरनार संस्करण)

मूलपाठ

१. अयं धंमलिपि देवानंप्रियेन प्रियदसिना राज्ञा लेखापिता अस्ति एव
२. संखितेन अस्ति मझमेन अस्ति विस्ततन [।] न च सवं सर्वत घटितं [।]
३. महालके हि विजितं बहु च लिखितं लिखापयिसं चेव [।] अस्ति च एत कं
४. पुन पुन वुतं तस तस अथस माधूरताय किंति जनो तथा पटिपजेथ [।]
५. तत्र एकदा असमातं लिखितं अस देसं व सछाय कारणं व
६. अलोचेत्वा लिपिकरापरधेन व [।।]

पृथक् कलिंग शिलालेख

(धौली संस्करण)

मूलपाठ

१. देवानंपियस वचनेन तोसलिय महामात नगलवियोहालका
२. वतविय [।] अं किछि दखामि हकं तं इछामि किति कंमन पटिपादये हं
३. दुवालते च आलभेहं [।] एस च मे मोख्यमत दुवाल एतसि अठसि अं तुफेसु
४. अनुसथि [।] तुफे हि बहूसु पानसहसेसु आयत पनयं गछेम सु मुनिसानं [।] सवे
५. मुनिसे पजा ममा [।] अथा पजाये इछामि हकं किति सवेन हितसुखेन हिदलोकिक-
६. पाललोकिकेन यूजेवू ति तथा—सव मुनिसेसु पि इछामि हकं [।] नो च पापुनाथ आवग-
७. मुके इयं अठे [।] केछ व एकपुलिसे पापुनाति एतं से पि देसं नो सवं [।] देखत हि तुफे एतं
८. सुविहिता पि [।] नितियं एकपुलिसे पि अथि ये बंधनं वा पलिकिलेसं पापुनाति [।] तत होति
९. अकस्मा तेन बधनतिक अंने च………हु·जने दविये दुखयति [।]·तत इछितविये
१०. तुफेहि किति मझं पटिपादयेमा ति [।] इमेहि चु जातेहि नो संपटिपजति इसाय आसुलोपेन
११. निठूलियेन तूलनाय अनावूतिय आलसियेन किलकथेन [।] इछितविये किंति एते
१२. जाता नो हुवेवु ममा ति [।] एवस च सवस मूले अनासुलोपे अतूलना च [।] नितियं ए किलंते सिया
१३. न ते उगछ सञ्चलितविये तु वटितविये एतविय वा [।] हेवंमेव ए दखेय तुफाक तेन वतविये
१४. आनंने देखत हेवं च हेवं च देवानंपियस अनुसथि [।] से महाफले ए तस संपटिपाद
१५. महाअपाये असंपटिपति [।] विपटिपादयमीने हि एतं नथि स्वगस आलधि नो लाजालधि [।]

१६. दुआहले हि इमस कंमस मे कुते मतोअतिलेके [।] संपटिपजमीने चु एतं स्वगं
१७. आलाधयिसथ मम च आननियं एहथ [।] इयं च लिपि तिसनखतेन सोतविया [।]
१८. अंतला पि च तिसेन खनसि एकेन पि सोतविव [।] हेवं च कलंतं तुफे
१९. चघथ संपटिपादयितवे [।] एताये अठाये इयं लिपि लिखित हिद एन
२० नगलवियोहालका सस्वतं समयं यूजेवू ति·······नस अकस्मा पलिबोधे व
२१. अकस्मा पलिकिलेसे व नो सिया ति [।] एताये च अठाये हकं ······ महामते पञ्चसु पञ्चसु वसे
२२. सु निखामयिसामि ए अखखसे अचंडे सखिनालंभे होसति एतं अठं जानितुं ········तथा
२३. कलंति अथ मम अनुसथी ति [।] उजेनिते पि चु कुमाले एताये व अठाये निखामयिस·······
२४. हेदिसमेव वङ्ग नो च अतिकामयिसति तिनि वसानि [।] हेमेव सखसिलाते पि [।] अदां ज········
२५. ते महामाता निखमिसंति अनुसयानं तदा अहापयितु अतने कंमं एतं पि जानिस
२६. तं पि तथा कलंति अथ लाजिने अनुसथी ति [॥]

द्वितीय पृथक् कलिंग शिलालेख

(जौगड़ संस्करण)

मूलपाठ

१. देवानंपिये हेवं आह [।] समापायं महामता लाजवचनिक वतविया [।] अं किछि दखामि हकं तं इछामि हकं किति कं कमन
२. पटिपातयेहं दुवालते च आलभेहं [।] एस च मे मोखियमत दुवाल एतस अथस अं तुफेसु अनुशथि [।] सवमुनि
३. सा मे पजा [।] अथ पजाये इच्छामि किंति मे सवेण हितसुखेन युजेयू अथ पजाये इछामि किंति मे सवेन हित सु
४. खेन युजेयू ति हिदलोगिकपाललोकिकेण हेवंमेव मे इछ सवमुनिसेसु [।] सिवा अंतानं अविजिता
५. नं किछादे सु लाजा अफेसू ति [।] एताका वा मे इछ अंतेसु पापनेयु लाजा हेवं इछति अनुविगिन ह्वेयू
६. ममियाये अस्वसेयु च मे सुखंमेव च लहेयू ममते तो खं हेवं च पापुनेयु
७. ए सकिये खमितवे ममं निमितं च धंमं चलेयू ति हिदलोगं च पललोगं च आलाधयेयू [।] एताये
८. च अठाये हकं तुफेनि अनुसासामि अनने एतकेन हकं तुफेनि अनुसासितु छंदं च वेदि
९. तु आ मम धिति पटिना च अचल [।] स हेवं कटू कंमे चलितविये अस्वासनिया च ते एन ते पापने
१०. यु अथा पित हेवं ने लाजा ति अथ अतानं अनुकंपति हेवं अफेनि अनुकंपति अथा पजा हे
११. वं मपे लाजिने [।] तुफेन हकं अनुसासित छांद च वेदित आ मम धिति पटिना चा अचल सकल
१२. देसाआयुतिके होसामी एतसि अथसि [।] अलं हि तुफे अस्वासनाये हितसुखाये च तेसं हिद
१३. लोगिकपाललोकिकाये [।] हेवं च कलंतं स्वगं च आलधयिसथ मम च आननेयं चसथ [।] ए
१४. ताये च अथाये इयं लिपि लिखित हिद एन महामाता सास्वतं समं युजेयू अस्वासनाये च
१५. धंमचलनाये च अंतानं [।] इयं च लिपि अनुचातुंमासं सोतविया तिसेन [।] अंतला पि च सोतविया [।]
१६. खने संतं एकेन पि सोतविया [।] हेवं च कलंतं चवथ संपटिपातयितवे [॥]

लघु शिलालेख

(रूपनाथ संस्करण)

मूलपाठ

१. देवानंपिये हेवं आहा [।] सातिरकेकानि अढतियानि व य सुमि प्रकास सके [।] नो चु बाढि पकते [।] सातिलेके चु छवछरे य सुमि हकं सघ उपेते

२. बाढि च पकते [।] या इमाय कालाय जंबुदिपसि अमिसा देवा हुसु ते दानि मिसा कटा [।] पकमसि हि एस फले [।] तो च एसा महतता पापोतवे खुदकेन

३. पि पकममिनेना सकिये पिपुले पा स्वगे आरोधेवे [।] एतिय अठाय च सावने कटे खुदका च उडाला च पकमतु ति । अता पि च जानंतु इय पकरा व

४. किति चिरठितिके सिया [।] इय हि अठे वढि वढिसति विपुल च वढिसति अपलधियेना दियढिय वढिसत [।] इय च अठे पवतिसु लेखापेत वालत [।] हुध च अथि

५. सालाठमे सिलाठंभसि लाखापेतवय त [।] एतिना च वयजनेना यावतक तुपक अहाले सवर विवसेतवाय ति [:] व्युठेना सावने कटे [।] २०० ५० ६ स

६. त विवासा त [।।]

पाद-टिप्पणी—प्रथम पंक्ति : सेना व ब्युलर ने 'सातिरकेकानि' को 'सातिलेकानि' पढ़ा है। इसे शुद्ध करके 'सातिरेकानि' पढ़ें। 'अढतियानि' के उपरांत 'व' 'वसानि' का संक्षिप्त रूप है। 'प्रकास सके' को ब्युलर ने 'पाका सावके' पढ़ा है। 'छवछरे' को संवछरे पढ़ें। तृतीय पंक्ति : ब्युलर ने 'पकममिनेना' को 'परुममिनेन' पढ़ा है। 'पिपुले' को 'विपुले' पढ़ें, उसके बाद 'पा' को 'पि' तथा 'आरोधेवे' को 'आराधे' 'तवे'। पंक्ति ४ : 'हुध' का पाठ ब्युलर व सेना ने 'हिध' प्रस्तावित किया है पंक्ति ५ : प्रथम अक्षर 'साला' को 'सिला' पढ़ें, 'लाखापेतवय' को 'लिखापेतविये' उसके बाद 'त' को 'ति', 'तुपक' को 'तुफाकं, तथा 'सवर' को 'सवत'। पंक्ति ६ : अन्तिम 'त' को 'ति' पढ़ें।

द्वितीय पृथक् कलिंग शिलालेख

(जौगड़ संस्करण)

मूलपाठ

१. देवानंपिये हेवं आह [।] समापायं महामता लाजवचनिक वतविया [।] अं किछि दखामि हकं तं इछामि हकं किति कं कमन
२. पटिपातयेहं दुवालते च आलभेहं [।] एस च मे मोखियमत दुवाल एतस अथस अं तुफेसु अनुशथि [।] सवमुनि
३. सा मे पजा [।] अथ पजाये इच्छामि किति मे सवेण हितसुखेन युजेयू अथ पजाये इछामि किति मे सवेन हित सु
४. खेन युजेयू ति हिदलोगिकपाललोकिकेण हेवंमेव मे इछ सवमुनिसेसु [।] सिवा अंतानं अविजिता
५. नं किछादे सु लाजा अफेसू ति [।] एताका वा मे इछ अंतेसु पापनेयु लाजा हेवं इछति अनुविगिन ह्वेयू
६. ममियाये अस्वसेयु च मे सुखंमेव च लहेयू ममते तो खं हेवं च पापुनेयु
७. ए सकिये खमितवे ममं निमितं च धंमं चलेयू ति हिदलोगं च पललोगं च आलाधयेयू [।] एताये
८. च अठाये हकं तुफेनि अनुसासामि अनने एतकेन हकं तुफेनि अनुसासितु छंदं च वेदि
९. तु आ मम धिति पटिना च अचल [।] स हेवं कटू कंमे चलितविये अस्वासनिया च ते एन ते पापने
१०. यु अथा पित हेवं ने लाजा ति अथ अतानं अनुकंपति हेवं अफेनि अनुकंपति अथा पजा हे
११. वं मपे लाजिने [।] तुफेन हकं अनुसासित छांद च वेदित आ मम धिति पटिना चा अचल सकल
१२. देसाआयुतिके होसामी एतसि अथसि [।] अलं हि तुफे अस्वासनाये हितसुखाये च तेसं हिद
१३. लोगिकपाललोकिकाये [।] हेवं च कलंतं स्वगं च आलधयिसथ मम च आननेयं षसथ [।] ए
१४. ताये च अथाये इयं लिपि लिखित हिद एन महामाता सास्वतं समं युजेयू अस्वासनाये च
१५. धंमचलनाये च अंतानं [।] इयं च लिपि अनुचातुंमासं सोतविया तिसेन [।] अंतला पि च सोतविया [।]
१६. खने संतं एकेन पि सोतविया [।] हेवं च कलंतं चघथ संपटिपातयितवे [॥]

लघु शिलालेख

(रूपनाथ संस्करण)

मूलपाठ

१. देवानंपिये हेवं आहा [।] सातिरकेकानि अढतियानि व य सुमि प्रकास सके [।] नो चु बाढि पकते [।] सातिलेके चु छवछरे य सुमि हकं सघ उपेते

२. बाढि च पकते [।] या इमाय कालाय जंबुदिपसि अमिसा देवा हुसु ते दानि मिसा कटा [।] पकमसि हि एस फले [।] तो च एसा महतता पापोतवे खुदकेन

३. पि पकममिनेना सकिये पिपुले पा स्वगे आरोधेवे [।] एतिय अठाय च सावने कटे खुदका च उडाला च पकमतु ति । अता पि च जानंतु इय पकरा व

४. किति चिरठितिके सिया [।] इय हि अठे वढि वढिसति विपुल च वढिसति अपलधियेना दियढिय वढिसत [।] इय च अठे पवतिसु लेखापेत वालत [।] हध च अथि

५. सालाठभे सिलाठंभसि लाखापेतवय त [।] एतिना च वयजनेना यावतक तुपक अहाले सवर विवसेतवाय ति [:] व्युठेना सावने कटे [।] २०० ५० ६ स

६. त विवासा त [॥]

पाद-टिप्पणी—प्रथम पंक्ति : सेना व ब्युलर ने 'सातिरकेकानि' को 'सातिलेकानि' पढ़ा है। इसे शुद्ध करके 'सातिरेकानि' पढ़ें। 'अढतियानि' के उपरांत 'व' 'वसानि' का संक्षिप्त रूप है। 'प्रकास सके' को ब्युलर ने 'पाका सावके' पढ़ा है। 'छवछरे' को संवछरे पढ़ें। तृतीय पंक्ति : ब्युलर ने 'पकममिनेना' को 'परुममिनेन' पढ़ा है। 'पिपुले' को 'विपुले' पढ़ें, उसके वाद 'पा' को 'पि' तथा 'आरोधेवे' को 'आराधे' 'तवे'। पंक्ति ४ : 'हध' का पाठ ब्युलर व सेना ने 'हिध' प्रस्तावित किया है पंक्ति ५ : प्रथम अक्षर 'साला' को 'सिला' पढ़ें, 'लाखापेतवय' को 'लिखापेतविये' उसके वाद 'त' को 'ति', 'तुपक' को 'तुफाकं, तथा 'सवर' को 'सवत'। पंक्ति ६ : अन्तिम 'त' को 'ति' पढ़ें।

शब्दार्थ

सातकेकानि=कुछ अधिक , **अढतियानि**=ढाई ; **य**=यत् ; **सुमि**=हूँ ; **प्रकास**=प्रकाश्यरूप से; **सके**=शाक्यः, बौद्धउपासक ; **बाढि**=बाढं, तीव्र ; **पकते**=पराक्रमी ; **सातिलेके चु छवछरे**=एक वर्ष से कुछ अधिक ; **सघउपेते**=संघ (की शरण) गया ; **अमिसा**=अमिश्र ; **मिसा कटा** =मिश्र किए गए ; **महतता**=उच्च पद वाले ; **पापोतवे**=प्राप्त होता है ; **खुदकेन**=क्षुद्र द्वारा भी ; **पकममिनेना**=पराक्रम द्वारा ; **सकियो**=शक्य है ; **विपुले**=विपुल ; **आरोधेवे**=आराधयितुं, प्राप्त किया जा सकता है ; **सावने**=श्रावण, धर्म-संदेश ; **उडाल**=उदार ; **अता**=सीमावर्ती लोग ; **सिया**=होवे ; **इय हि अठे**=यह प्रयोजन ; **वढि वढिसिति**=अधिकाधिक बढ़ेगा ; **अपलधियेना**=कम या ज्यादा रूप से ; **दियढिय**=ड्योढ़ा , **इय च अठे**=इस विषय में ; **लेखापेत वालत**=सुयोग से लिखवाएँ ; **इध च अथि**=और यहाँ (राज्य में) जहाँ कहीं भी हों ; **सिलाठभ**=शिलास्तंभ ; **एतिना च वयजनेना**=इसके व्यञ्जन के अनुसार (इस आदेश के शब्दानुसार) ; **तुपक**=आपको ; **सवर**=सर्वत्र ; **विवसेतावाय**=भेजें ; **व्युठेना**=प्रवास के समय ।

अनुवाद

देवानांप्रिय ने ऐसा कहा—"ढाई से कुछ अधिक वर्ष व्यतीत हुए जब से मैं प्रकाश्यरूपेण शाक्य (=बौद्धोपासक) हूँ। किन्तु (मैं) तीव्र पराक्रमी (=तीव्र धर्मोद्यमी) नहीं रहा। एक से कुछ अधिक वर्ष से, जब से मैंने संघ की शरण ली है, (तब से) तीव्र पराक्रम (= उद्योग) कर रहा हूँ। इस काल तक जम्बूद्वीप में देवता (जो) (मानवों से) अमिश्र थे वे अब (मानवों से) मिश्र (सम्बन्धवान्) कर दिए गए हैं। यह फल पराक्रम (अर्थात् उद्योग) का ही है। यह केवल उच्च-पदस्थ व्यक्तियों को ही प्राप्तव्य नहीं है, क्षुद्र पराक्रम (= मामूली उद्योग) से भी विपुल स्वर्ग उपलब्ध हो सकता है। इस प्रयोजन के लिए श्रावण की व्यवस्था की गई—क्षुद्र और उदार (सभी लोग) पराक्रम (अर्थात् उद्योग)। करें और प्रत्यन्त (अर्थात् सीमावर्ती जन) भी जानें कि यह पराक्रम ही—क्या ?—चिरस्थायी हो। यह अर्थ (अर्थात् प्रयोजन, अर्थात् धर्म-श्रावण) अधिकाधिक बढ़ेगा, विपुल रूपसे बढ़ेगा, न्यूनाधिक रूप से ड्योढ़ा बढ़ेगा। इन अर्थ को (विषय को) (आप) सुयोग से पर्वतों पर लिखवायें। यहाँ (अर्थात् साम्राज्य में जहाँ कहीं भी) शिला-स्तंभ हैं (इसे) शिलास्तम्भों पर लिखवाया जाय। और इसके व्यञ्जनानुसार (अर्थात् इस आदेश के शब्दानुसार) जहाँ तक आपका आहार (कार्य-क्षेत्र) है सर्वत्र (अपने राजपुरुषों को) भेजें। यह श्रावण (अर्थात् धर्म संदेश) प्रवास के समय किया गया (जब) २५६ (दो सौ छप्पन रात अर्थात् दिन) पड़ाव बीत चुके थे।

व्याख्या

(१) अशोक के लघु शिलालेख रूपनाथ, सहसराम, वैराट, मास्की, ऐर्रंगुडी, सिद्धपुर, जटिंग-रामेश्वर, ब्रह्मगिरि, गोविमठ, पलकिगुंडी, राजुलमण्डगिरि, गुजर्रा,

अहरौरा और नई दिल्ली से मिले हैं। इन स्थानों के परिचय के लिए दे०, पीछे। इनके अलावा कुछ लोग बैराट-कलकत्ता (भाब्रू) लेख को भी लघु शिलालेखों में ही सम्मिलित कर लेते हैं लेकिन यह शिलालेख न होकर पाषाण फलक-लेख है और इसका विषय सर्वथा भिन्न है। लघु शिलालेखोंमें जटिंगरामेश्वर, पलकिगुंडी तथा राजुलमंडगिरि का काफी भाग, सिद्धपुर का अन्तिम दो तिहाई भाग तथा अहरौरा का पूर्वार्द्ध काफी खंडित हो गये हैं।

(२) अशोक के अन्य लघु शिलालेख भाषा और मामूली से कुछ अन्य परिवर्तनों को छोड़कर रूपनाथ संस्करण के समान हैं परन्तु : (१) गुर्जरा और मास्की संस्करणों में अशोक का नाम से उल्लेख है (गुजर्रा : देवानांपियस असोकस राजस। मास्की : देवानांपियसा असोकस)। (२) मास्की तथा कुछ अन्य खण्डित लेखों में २५६ संख्या उल्लिखित नहीं है। (३) दक्षिण के ब्रह्मगिरि, सिद्धपुर तथा जटिंगरामेश्वर ल० शि० ले० का प्रारंभ इस प्रकार हुआ है : सुवर्णगिरि से आर्यपुत्र और महामात्यों के वचन से इषिला में महामात्रों का आरोग्य पूछना चाहिए और सूचित करना चाहिए कि देवानांप्रिय ने ऐसा कहा—"। (४) ब्रह्मगिरि, सिद्धपुर तथा जटिंगरामेश्वर ल० शि० ले० में २५६ पड़ावों का उल्लेख करने के बाद कुछ और वाक्य जुड़े हैं जिनमें माता पिता व गुरुजनों की सेवा करने का उपदेश दिया गया है। कुछ विद्वान् इन्हें द्वितीय ल० शि० ले० कहते हैं। (५) अहरौरा-लेख के अन्त में बुद्ध के अवशेषों की स्थापना का उल्लेख है।

(३) **प्रकास सके**=प्रकाशं शाक्यः। शाक्यः=बौद्ध उपासक। रा० ब० पाण्डेय ने इसे 'उपासक' अर्थ में लिया है। परन्तु 'उपासक' शब्द ल० शि० ले० के अन्य संस्करणों में तो आया है लेकिन रूपनाथ और मास्की संस्करणों में स्पष्टतः 'सके' शब्द है। मास्की ल० शि० ले० के 'बुध सके' का अर्थ 'बुद्ध शाक्य'=बौद्ध ही हो सकता है। वराहमिहिर ने 'शाक्य' को बौद्धोपासक अर्थ में ग्रहण किया है। यही अर्थ कौटिल्य ने 'अर्थशास्त्र' में माना है। इस साक्ष्य से अतिरिक्त रूप से प्रमाणित है कि अशोक व्यक्तिगत रूप से बौद्ध हो गया था। कुछ विद्वान् 'सके' को 'श्रावक' अर्थ में ले लेते हैं। लेकिन यह सम्भव नहीं लगता।

(४) **नो चु बढ़ि पकते**='किंतु तीव्र पराक्रमी नहीं रहा'। ब्रह्मगिरि व सिद्धपुर संस्करणों में इसके बाद "हुसं एकं सवछरं"="एक वर्ष तक" शब्द और आए हैं। कुछ विद्वान् इसका अर्थ यह मानते हैं कि अशोक ने 'ढाई वर्ष से कुछ अधिक समय' तक तो विशेष पराक्रम नहीं किया परन्तु इस 'ढाई वर्ष से अधिक' के उपरान्त व्यतीत होने वाले एक वर्ष में विशेष पराक्रम दिखाया। इस प्रकार वह यहाँ कुल मिलाकर करीब चार वर्ष का वर्णन मानते हैं। परन्तु रूपनाथ-संस्करण का ब्रह्मगिरि व सिद्ध-पुर संस्करणों के साथ **समवेत अध्ययन करने पर** स्पष्ट हो जाता है कि अशोक के तीव्र पराक्रम का 'एक वर्ष से कुछ अधिक समय' उसके द्वारा उल्लिखित 'ढाई वर्ष

से कुछ अधिक' समय के अन्दर सम्मिलित था। इस प्रकार वह अपने पराक्रम के समय को, जो ल० शि० ले० लिखवाने के पूर्व बीता कुल 'ढाई वर्ष से अधिक बताता है जिसमें एक वर्ष तक उसने विशेष पराक्रम नहीं दिखाया परन्तु इसके बाद, संघ में शरण लेने पर, उसने एक वर्ष से कुछ अधिक समय में तीव्र पराक्रम दिखाया।

(५) **सघ (संघं) उपेते (उपगते, उपयाते, उपयीते)** —उपेते=पास जाना सम्बद्ध होना, शरण में जाना। इसका अर्थ बहुत विवादग्रस्त है। ब्युलर तथा कर्न : अशोक कुछ समय के लिए भिक्षु हो गया था और उसने राजपद छोड़ दिया था क्योंकि राजपद भिक्षु जीवन के साथ संगत नहीं था। स्मिथ : अशोक राजपद छोड़े बिना भिक्षु हो गया था। इत्सिंग ने अशोक की भिक्षु रूप में प्रतिमा देखी थी। कुमारपाल चालुक्य तथा बर्मा व तिब्बत के कुछ नरेश राजपद का उपभोग करते हुए ही भिक्षु बन गए थे। सेना : अशोक ने संघ की यात्रा की और वहाँ अपने बौद्ध होने की घोषणा की। बरुआ : अशोक पहले उपासक था। इसका अर्थ कि वह सभी सम्प्रदायों में रुचि रखता था। इसके बाद वह संघ की शरण में गया अर्थात् बौद्ध उपासक बन गया। लेकिन इसके बाद भी वह राजा बना रहा। १०वें वर्ष सम्बोधि की यात्रा करते समय तथा २०वें वर्ष लुम्बिनी की यात्रा करते समय वह निश्चय ही राजपद का उपभोग कर रहा था। अपने मत के समर्थन में बरुआ ने बुद्धघोष द्वारा प्रदत्त उस कथा की ओर ध्यान दिलाया है जिसके अनुसार राजत्व प्राप्त करने के बाद अशोक ने क्रमशः कई सम्प्रदायों में दिलचस्पी ली। परन्तु सबको खोखला पाया। अन्त में एक युवा बौद्ध भिक्षु ने उसे बौद्ध धर्म की ओर उन्मुख किया। बरुआ ने 'संघं उपेते' का अर्थ अन्य सम्प्रदायों से बौद्ध धर्म की ओर उन्मुख होना माना है लेकिन रूपनाथ व मास्की अभिलेखों में, विशेषतः मास्की लेख में 'बुध सके' शब्द के प्रयोग से स्पष्ट है कि अशोक संघ में जाने के पूर्व ही बौद्ध बन गया था। हूल्त्ज़ तथा भाण्डारकर : अशोक बौद्ध भिक्षु तो कभी नहीं बना परन्तु उपासक के रूप में कुछ समय संघ में रहा था। अगर अशोक के संघ में जाने के बाद का 'एक वर्ष से कुछ अधिक समय' 'ढाई वर्षों से अधिक' के अन्तर्गत सम्मिलित है तो संघ में जाने का अर्थ भिक्षु बनना नहीं हो सकता क्योंकि वह स्पष्ट कहता है कि इन 'ढाई वर्षों से अधिक ममय' में वह 'उपासक' मात्र था (बैराट व सिद्धपुर ल० शि० ले०)। 'संघ उपेते' वास्तव में उपासकों द्वारा प्रव्रज्या मन्त्र में प्रयुक्त होने वाले 'संघं शरणं गच्छामि' का भावानुवाद मात्र हो सकता है। भाण्डारकर ने चरणदास चटर्जी का यह सुझाव माना है कि अशोक की इस स्थिति को जब वह उपासक मात्र होते हुए भी संघ से सम्बद्ध था 'भिक्षुगतिक' कहा जा सकता है। इस शब्द का प्रयोग 'महावग्ग' में मिलता है जहाँ 'भिक्षुगतिक' उन लोगों को कहा गया है जो भिक्षु जीवन की ओर पूर्णतः उन्मुख होते हुए और संघ से सम्बद्ध होते हुए भी किसी कारणवश भिक्षु नहीं बन पाते थे। यह उपासकत्व व

भिक्षुत्व के बीच की अवस्था होती थी। इस मत को रा० व० पाण्डेय ने भी माना है।

(६) **इमाय कालाय**—कुछ ने इसका तात्पर्य ल० शि० ले० लिखे जाने से पूर्व व्यतीत हुए 'ढाई वर्ष से अधिक' का समय माना है। परन्तु इसका सही तात्पर्य है 'पूर्वकाल में' या 'अबतक'। दे०, मास्को संस्करण का 'पुरे' (=पूर्वकाल में) और सहसराम संस्करण का 'एतेन अंतलेन' (= अब तक)।

(७) **जम्बुदिपसि** = भारतवर्ष। बौद्ध भूगोलानुसार पृथिवी का दक्षिणी भाग। हिमालय के दक्षिण में स्थित उप-महाद्वीप। यहाँ अशोक के साम्राज्य से तात्पर्य है।

(८) **अमिसा देवा हुसु ते दानि मिसा कटा** = (अब तक) देवता (मनुष्यों से) अमिश्र थे उन्हें अब मिश्र कर दिया गया। रूपनाथ व मास्की संस्करणों में 'मानुसेहि' शब्द नहीं है, अन्य संस्करणों में मनुष्यों का उल्लेख करने वाला शब्द प्रयुक्त है। यह वाक्य अत्यन्त विवादग्रस्त है। हरप्रसाद शास्त्री : 'मिसा' शब्द को मृषा= 'मिथ्या' मानकर और 'देव' को भूदेव='ब्राह्मण' अर्थ में लेकर शास्त्री जी ने सुझाया था कि यहाँ अशोक यह दावा कर रहा है कि उसने ब्राह्मणों को जो असली देवता माने जाते थे, मिथ्यादेवता सिद्ध कर दिया। परन्तु 'मिसा' के लिए भाब्रु लेख में 'मुसा' शब्द का प्रयोग हुआ है 'मिसा' का नहीं। दूसरे, जैसा कि लेवी ने ध्यान दिलाया था, प्रस्तुत लेख के मास्की संस्करण में मिसिभूता=संस्कृत का 'मिश्रीभूता' शब्द आता है जिससे स्पष्ट है कि यहाँ अशोक देवताओं और मनुष्यों को 'मिश्रित' करने का ही दावा कर रहा है। एफ० डब्ल्यू० टॉमस : अशोक ने एक वर्ष से कुछ ही अधिक समय में भारत को वन्य जातियों को ब्राह्मण देवताओं से परिचित करा दिया। मुखर्जी : इस बीच वे लोग जिनका कोई धर्म या देवता नहीं थे देवोपासक बना दिए गए। यह अशोक के संघ के साथ संबंधित होने का परिणाम था। भाण्डारकर : अशोक यहाँ दावा कर रहा है कि उसने मनुष्यों को नैतिक दृष्टि से इतना श्रेष्ठ बना दिया कि वह स्वर्ग में देवताओं का सामीप्य प्राप्त करने लगे। उन्होंने ध्यान दिलाया है कि 'आपस्तम्ब धर्मसूत्र' के अनुसार पहिले देवता और मनुष्य साथ-साथ रहते थे। बाद में देवता अपने कर्मों की उत्तमता के कारण (यज्ञ करने के कारण) स्वर्ग चले गए, मनुष्य पृथिवी पर ही रह गए। अतः अशोक के कथन का अर्थ यह प्रतीत होता है कि उसने मनुष्यों को धर्म के मार्ग पर चलाकर देवताओं का सामीप्य प्राप्त करा दिया। लेकिन 'आपस्तम्ब' में जिन देवताओं की बात कही गई है वे पितर हैं, देवता नहीं जो यज्ञ करने के कारण स्वर्ग को प्राप्त हुए थे। दूसरे, यहाँ अशोक का दावा यह है कि पहिले जंबूद्वीप में देवता और मनुष्य अमिश्र थे, अब मिश्रित हो गए हैं जब कि आपस्तम्ब० में इससे ठीक उल्टी बात कही गई है। तीसरे, अशोक देवतओं और मनुष्यों के इसी पृथिवी पर मिश्रित होने की बात करता

है, परलोक में नहीं। यह सही है कि इसी लेख में वह 'विपुल स्वर्ग' प्राप्त करने की चर्चा करता है और अन्य अभिलेखों में पराक्रम (= उद्योग) द्वारा स्वर्ग प्राप्ति को जीवन का उद्देश्य बताता है (दे० ४ था, ९वाँ व ·१०वाँ शि० ले०), लेकिन यहाँ वह स्वयं पृथिवी पर ही देवताओं और मनुष्यों के मिश्रित होने की ही बात कह रहा है। वरुआ : तत्कालीन बौद्ध साहित्य में तीन प्रकार के देवता वताए गए हैं—उपपत्ति देव (जो जन्म से देवता हैं अर्थात् स्वर्गीय देवता), सम्मुति देव (वे जो आदर के लिए देवता कहे जाते हैं यथा राजा, राजकुमार, वायसराय आदि) तथा विसुद्धि देव (ब्राह्मण और श्रमण आदि) तु० 'अर्थशास्त्र' १२.३ : ये देवा देवलोकेषु, मानुषेषु ब्राह्मणः। बरुआ के अनुसार यहाँ अशोक का आशय है कि उसने सम्मुति देवों और विसुद्धि देवों को सामान्य जनों के निकट ला दिया था।

हमें ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ अशोक के कथन का शाब्दिक अर्थ करन उचित नहीं है। देवताओं और मनुष्यों का स्वयं इसी पृथिवी पर मिलाप प्राचीना भारत में एक लोकप्रिय धार्मिक कल्पना और साहित्यिक प्रतीक था। 'वेदान्तसूत्र' की टीका करते समय शंकराचार्य ने देवताओं के द्वारा ब्रह्मविद्या की प्राप्ति की सम्भावना का समर्थन करते हुए कहा है कि देवताओं का भी व्यक्तित्व होता है जो वैदिक मन्त्रों, अर्थवाद, इतिहास, पुराणों और स्मृति ग्रन्थों से प्रमाणित है। स्मृतियों और पुराणों में कहा ही गया है कि व्यास आदि ऋषि देवताओं से वार्तालाप करते थे। यह कहना कि आज पृथिवी पर देवता नहीं हैं इसलिए पहिले भी नहीं थे उसी प्रकार तर्कहीन बात है जैसे यह कहना कि क्योंकि आजकल पृथिवी पर चक्रवर्ती नरेश नहीं हैं इसलिए पहिले भी होते ही नहीं थे। अतः यह मानना अनुचित नहीं है कि प्राचीन लोग देवताओं से वार्तालाप किया करते थे (एस. बी. इ. ३४, पृ० २२२-३)।

प्राचीन भारतीय साहित्य में पृथिवी पर देवताओं और मनुष्यों के मिलाप का काल्पनिक वर्णन कई स्थलों पर मिलता है। 'महाभारत' के वनपर्व (१३१.३४) में कहा गया है कि शिवि उशीनर के सदन में मुनियों और देवताओं का मिलन महात्मा ब्राह्मण लोग सदैव देख सकते थे :

तत्र वै सततं देवा मुनयश्च सनातनाः।
दृश्यन्ते ब्राह्मणैर्राजन् पुण्यवद्भिर्महात्मभिः॥

एक अन्य स्थल पर इस ग्रन्थ में सुबाहु नामक नरेश के राज्य को देवताओं के सम्पर्क में रहने वाला कहा गया है। रामराज्य का वर्णन करते हुए इस ग्रन्थ (२.३.६०) में कहा गया है :

ऋषीणां देवतानां च मनुष्याणां च सर्वशः।
पृथिव्यां सहवासोऽभूत् रामराज्ये प्रशासति॥

इसी प्रकार 'रामायण' के उत्तरकाण्ड (४१.१७-१८) में कहा गया है :

भरतः प्राञ्जलिर्वाक्यमुवाच रघुनन्दनम् ।
विबुधात्मानि दृश्यन्ते त्वयि वीर प्रशासति ॥ १७ ॥
अमानुषाणि सत्त्वानि व्याहृतानि मुहुर्मुहुः ।

'हरिवंश' (३.३२.१) में भी एक स्थल पर आया है : 'देवतानां मनुष्याणां सहवासो भवत्तदा'' 'मणिमेखलाई' में २८ दिन तक चलने वाले दीपकोत्सव का उल्लेख मिलता है जिसमें लोग इसलिए कोई अपकृत्य नहीं करते थे क्योंकि उनका विश्वास था कि उन दिनों देवता उनके बीच आकर रहते हैं। स्वयं प्राचीन अभिलेखों में देवताओं और मनुष्यों के सम्पर्क की कल्पना उल्लिखित मिलती है। एक अभिलेख (आई.ई.१,२९ पृ० ३५) में कहा गया है कि शैलोद्भव नरेश अयशोभीत माधवराज (लग० ६६५-९५ ई०) दिवंगत सन्तों को पृथिवी पर बुलाकर उनसे वार्तालाप कर सकता था। एक कम्बुज अभिलेख में कहा गया है कि एक बार जब एक मुनि ने शिवलिंग प्रतिष्ठापित किया तो स्वयं इन्द्रादि देवता उसे बधाई देने और उसे स्वर्ग चलने का निमन्त्रण देने आए थे जिसे मुनि ने नम्रतापूर्वक अस्वीकृत कर दिया था (मजूमदार, इन्स्क्रिप्शन्स् ऑव कम्बुज, पृ० ४३९ अ० ; दे०, नेगी, जे० एस०, सम इण्डोलोजिकल स्टडीज, १, पृ० १७५ अ०)। इस प्रसंग में जे० एस० नेगी ने ध्यान दिलाया है कि 'संयुक्त निकाय' के 'देवपदसुत्त' में श्रद्धालु श्रावकों को जो सील=शील का अभ्यास करते हैं, देवच्युत बताया गया है। इस सिद्धान्त को मानने पर स्वीकार करना होगा कि पृथ्वी पर एक ही समय अनेक देवता विद्यमान हो सकते हैं। अतः हमें ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक ने अपने धर्मप्रचार की सफलता का कुछ अतिरञ्जित रूप से वर्णन करने के लिए जन मानस में प्रचलित देवताओं के साथ मनुष्यों के सम्पर्क की इस अवधारणा का ही प्रतीकात्मक रूप से उपयोग किया है। इसका शाब्दिक अर्थ करना सर्वथा अनावश्यक है। यहाँ अशोक का तात्पर्य मात्र इतना है कि उसने जम्बूद्वीप में सतयुग की स्थापना कर दी थी। स्पष्टतः वह यहाँ अपने धर्म प्रचार की उपलब्धियों को उस भाषा में कह रहा है जिसे उसके युग के लोग आसानी से समझते थे।

(८) **खुदका च उडाला च**='क्षुद्र और उदार।' 'उडाला' के बजाय किसी-किसी संस्करण में 'महत्पा' शब्द मिलता है। भाण्डारकर ने उन्हें अशोक के छोटे और बड़े पदाधिकारियों के अर्थ में लिया है।

(९) **व्युठेन**—(मेरे द्वारा) जो 'दौरे पर' है अर्थात् पड़ाव में है। रूपनाथ संस्करण में 'व्युठेन सावने कटे २०० + ५० + ६ सत विवासा (सो) त (ति)' पद के प्रयोग से स्पष्ट है कि 'व्युठेन' या 'व्युथेन' तथा 'विवास' दोनों की व्युत्पत्ति वि √वस् से हुई है। 'विवास' शब्द का प्रयोग अशोक के अभिलेखों में अनेकत्र 'प्रवास' या 'दौरे' के अर्थ में हुआ है (यथा, विवासयाथ' तथा 'विवासा पयाथा' : सारनाथ ल० शि० ले०)। 'वि थ' स्पष्ट : संस्कृत 'व्युषित' का प्राकृत रूप है (दे० सरकार,

आई. एच. क्यू. ३८, पृ० २२२-४) अतः इसका यहाँ अर्थ होगा "यह श्रावण (घोषणा) तब की गई जब मुझे प्रवास में २५६ दिन बीत चुके थे।" 'व्युठेना' सावने कटे २०० + ५० + ६ सत विवासा त" के अन्य प्रस्तावित अर्थ : (१) ए० के० नारायण : विवुथेन = 'विवृतेन' या 'विवटेन' अर्थात् खुलेआम या प्रकाशित। परन्तु जैसा कि दि० च० सरकार ने कहा है यह अर्थ एकदम अस्वीकार्य है। 'श्रावण' (= घोषणा) तो स्वयं प्रकाशित होती है, इसके साथ प्रकाशित क्रिया-विशेषण अनावश्यक है। जैसा कि अब अधिकांश विद्वान् मानते हैं इस शब्द की व्युत्पत्ति वि√वस् से हुई है। (२) साम्राज्य के विभिन्न भागों में २५६ पदाधिकारी भेजे गए। (३) यह श्रावण बुद्ध परिनिर्वाण (ब्युलर व गो०रा० शर्मा) अथवा निर्वाण अर्थात् सम्बोधि (भाण्डारकर) के २५६ वें वर्ष में घोषित किया गया। (४-५) यह श्रावण २५६ प्रचारक (या प्रतिलिपियाँ) भेजकर घोषित किया गया। ये सभी सुझाव अब अधिकांश विद्वानों को अस्वीकार्य हैं।

लघु शिलालेख

(अहरौरा संस्करण)

मूलपाठ

१. .... पियो (।*) साति
२. .... [सा] धि [का]....
३. .... च वाढं पलकंते (।*)
४. .... च पलकंते (।*) एतेन
५. [अ] तले .... मिसंदेवा कटा (।*)
६. पलक [मस इ] .... [त्वन] व [स] क्य पापोतवे (।*) खुदकेन पि
७. पलकममीनेना विपुले पि स्वग [स] क्ये आलाधेतवे (।*) एताये अठाये
८. [इ] यं सावने (।*) खुदका च [उडा] ला च प [ल] कमंतु (।*) अंता पि च जानंतू (।*)
९. [च] ा लठीति के च पलकमे होतू (।*) इयं च अठे वढिसति विपुलं पि च
१०. वढिसति दियढि [यं अ] वलधिया वढिसती (।*) एस सावने विवुथे [न]
११. [दु] वे सपंना – लाति सति अं मं [चे] बुधस सलोले आलोढे ति

पाठ-टिप्पणी—प्रथम पंक्ति के अन्तिम अक्षरों को रा० ब० पाण्डेय व ए० के० नारायण ने 'यजत' पढा है। मिराशी को प्रथम दो पंक्तियों में कोई अक्षर पढ़ने में नहीं आया। अगली ४ पंक्तियों का अधिकांश टूट गया है परन्तु ल० शि० ले० के अन्य संस्करणों की सहायता से उनको पुनर्योजित किया जा सकता है। नारायण दसवीं पंक्ति के बाद वाक्य को पूर्ण हुआ मानते हैं और ११ वीं पंक्ति में 'सति' के उपरान्त "अंमं (म्हं) [? च]" पढ़ते और अन्तिम अक्षर को 'त्वा' अथवा 'च'। मिराशी व पाण्डेय ने इन अक्षरों को "[।*] [सं] वं [सं]" तथा 'च' पढ़ा है। शर्मा ने अन्तिम पंक्ति में 'बुधस सलीले आलोके' पाठ माना है और शंकरनारायणन् ने 'आंमं च बुधस सलीले आलोढ़े ति'। नेगी ने 'आलोढ़े' के उपरांत मिलने वाले चिह्नों को '२५६' संख्या का अवशिष्ट अंश बताया है। हमने ऊपर सरकार द्वारा स्वीकृत पाठ दिया है।

शब्दार्थ

दुवे सपंना लाति सति = दो सौ छप्पन वीं रात्रि में ; **मंच** = स्तूप ; **आलोढ़े** = आरूढ़, प्रतिष्ठापित ।

अनुवाद

१··· ··· ··· ···(देवानां ?) प्रिय । और अधिकं

२···· ···· ···· ···· ···· ···· ····

३ [ढाई वर्ष से कुछ अधिक समय से मैं उपासक हूँ किन्तु नहीं] अधिक पराक्रम किया ।

४ [एक वर्ष से कुछ अधिक हुआ मैं संघ की शरण गया, तब से अधिक] पराक्रम किया । इस

५ बीच में [जम्बूद्वीप में जो अमिश्र देवता थे वे इस समय] मिश्रदेवता कर दिए गए ।

६ पराक्रम [का यह फल है । यह केवल उदार जनों से ही] प्राप्त होना शक्य नहीं है । क्षुद्र

७ पराक्रम द्वारा भी विपुल स्वर्ग प्राप्त होना शक्य है । इस प्रयोजन के लिए

८ यह श्रावण (किया गया) । (जिससे) क्षुद्र और उदार (सभी लोग) पराक्रम करें । सीमावर्ती लोग भी जानें ।

९ और पराक्रम चिरस्थायी हो । और यह प्रयोजन बढ़ेगा और विपुल रूप से

१० बढ़ेगा । कम-से-कम डयोढ़ा बढ़ेगा । यह श्रावण प्रवास में

११ बुद्ध के अवशेषों के मञ्चारूढ़ किए जाने के दो सौ छप्पन रातों (अर्थात् दिनों) बाद किया गया ।

व्याख्या

(१) अहरौरा ल० शि० ले० की खोज का श्रेय कुछ विवाद का विषय बन गया है । इलाहाबाद से प्रकाशित होने वाले दैनिक पत्र 'लीडर' के ११ नवम्बर १९६१ के अंक में (तथा कुछ अन्य पत्रों में) प्रेस ट्रस्ट ऑव इण्डिया द्वारा प्रचारित एक समाचार के अनुसार इस अभिलेख की खोज प्रयाग-विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास, संस्कृति और पुरातत्त्व विभाग के एक सर्वेक्षण दल ने प्रोफेसर गो० रा० शर्मा के नेतृत्व में अहरौरा का सर्वेक्षण करते समय की थी । इसी समाचार के साथ प्रोफेसर शर्मा के इस लेख के महत्त्व के विषय में विचार भी प्रकाशित हुए । परन्तु बनारस-हिन्दू-विश्वविद्यालय के कालिज ऑव इण्डोलाजी के तत्कालीन प्राचार्य

प्रोफेसर ए० के० नारायण ने 'भारती' (अंक ५ भाग १) में प्रकाशित अपने एक लेख में बताया है कि यद्यपि (अहरौरा के वाराणसी से केवल २५ मील दूर स्थित होने एवं अखबारों में इस महत्त्वपूर्ण लेख की इतनी अधिक चर्चा होने के बावजूद !) उनका ध्यान इस समाचार की ओर काफी समय तक नहीं गया (उन्हें इस खोज का पता दिल्ली में दिसम्बर १९६१ के दूसरे सप्ताह में चला) लेकिन दिल्ली में इस समाचार से अवगत कराते समय उनके कुछ विद्यार्थियों ने उनको बताया कि वे इस अभिलेख से पहिले से ही परिचित थे ! पता नहीं उन्होंने डॉ० नारायण को इतनी महत्त्वपूर्ण सूचना इसके पूर्व क्यों नहीं दी थी।

(२) **दुवे सपंना लाति सति** = दो सौ छप्पन रात (अर्थात् दिन)। 'रात' का 'सम्पूर्ण दिन व रात' के अर्थ में प्रयोग प्राचीनकाल में खूब प्रचलित था (दे० महाभारत, ३.८२.६२)। दिन के स्थान पर रात्रि शब्द का प्रयोग दैनिक 'पड़ाव' का द्योतक है। ल० शि० ले० के अन्य संस्करणों में यह संख्या अंकों में २०० + ५० + ६ लिखी है, केवल सहसराम-संस्करण में शब्दों और अंकों दोनों में मिलती है। प्रस्तुत लेख में यह केवल शब्दों में लिखी है। लेकिन जे० एस० नेगी का कहना है कि 'आलोढ़े' शब्द के उपरान्त जो चिह्न दिखाई देता है (जिसे नारायण ने 'त्वा' अथवा 'च' पढ़ा है, मिराशी ने 'च' और सरकार ने विराम चिह्न माना है) वह वास्तव में अंकों में लिखित २५६ संख्या का, जो अब मिट भी गई है, अवशिष्ट भाग है।

(३) **अं मंचे बुधस सलीले आलोढ़े** = जब से बुद्ध के देहावशेष मञ्चारूढ हुए (अर्थात् पूजार्थ मञ्च पर स्थापित किए गए)। सलीले = शरीरे = देहावशेष। आलोढ़े = आरुढम् : मंच = स्तूप। अन्य सुझाव : ए० के० नारायण ने इसे "अंमं (म्हं) [? च] बुधस सलीले आलोढ़े" पढ़ कर इसका अर्थ किया है "अपने बुद्ध (= गौतम, बुद्ध ; कनक मुनि आदि पूर्वगामी बुद्धों से भिन्न) के अवशेषों को प्रतिष्ठित कराने के बाद"। मिराशी ने इसका पाठ "संवंसं बुधस सलीले आलोढे" मानकर यहाँ "सम्यक् सम्बुद्ध के देहावशेष को प्रतिष्ठित कराकर" अर्थ किया है। गो० रा० शर्मा ने 'बुधस सलीले आलोके' पाठ स्वीकृत करके इसका अर्थ "बुद्ध परिनिर्वाण के उपरान्त" बताया है। अहरौरा-लेख के उपलब्ध होने के पूर्व भी २५६ संख्या को ब्युलर ने महापरिनिर्वाण संवत् का वर्ष बताया था और भाण्डारकर ने इसे परिनिर्वाण के बजाय निर्वाण (बुद्ध द्वारा सम्बोधि प्राप्ति के वर्ष) से गिना था। लेकिन ब्युलर व शर्मा के मत को मानने पर यह लेख बुद्ध के परिनिर्वाण के २५६ वर्ष उपरान्त (४८३-२५६ = २२७ ई० पू०) मानना होगा और भाण्डारकर के मत को मानने पर २२७ से ४५ वर्ष पूर्व का अर्थात् २२७ + ४५ = २७२ ई० पू० का (क्योंकि बुद्ध को सम्बोधि महापरिनिर्वाण के ४५ वर्ष पूर्व प्राप्त हुई थी)। ये दोनों सम्भावनाएँ ही गलत हैं। भाण्डारकर का मत तो प्रस्तुत लेख के कथन के (बुद्धस सलीले आलोढ़े) के भी विरुद्ध होगा। स्मरणीय है कि इस लेख को प्रायः अशोक के प्रारं-

म्भिक अभिलेखों में माना जाता है। दूसरे, यह प्रश्न भी उठता है कि अशोक ने बुद्ध-सम्वत् का प्रयोग केवल इसी लेख में क्यों किया है अन्य अभिलेखों में क्यों नहीं। शंकरनारायणन ने इस अंश का पाठ "आंमं च वुधस सलीले आलोढ़े ति" सुझाकर इसका संस्कृत रूप "आश्मं च बुद्धस्य शरीरं आरूढं (=आरोपितं इति)" बताया है और यहाँ बुद्ध अथवा उनके किसी प्रतीक की मूर्ति की स्थापना का उल्लेख माना है। परन्तु 'शरीर' शब्द का प्रयोग सम्पूर्ण बौद्ध साहित्य व अभिलेखों में 'प्रतिमा' अर्थ में नहीं वरन् 'देहावशेष' अर्थ में ही मिलता है। बौद्ध परम्परानुसार भगवान् बुद्ध के अवशेष पहिले कुसीनारा में मल्लों के पास थे जिनके राज्य में उनका देहावसान हुआ था। लेकिन बाद में मगध नरेश अजातशत्रु, वैशाली के लिच्छवियों, कपिलवस्तु के शाक्यों, अल्लकप्प के वुलियों, रामग्राम के कोलियों, वेठदीप के एक ब्राह्मण तथा पावा के मल्लों ने उनको कुसिनारा के मल्लों के साथ मिलकर आठ भागों में बाँट लिया और उनपर स्तूप बनवाए। बाद में अशोक ने उन स्तूपों को खुलवाकर उनके स्थान पर पवित्र अवशेषों को पुनर्स्थापित कराने के लिए ८४,००० स्तूपों का निर्माण कराया। अहरौरा-अभिलेख अशोक द्वारा बुद्धावशेषों पर स्तूप बनवाने का उल्लेख करने वाला प्रथम अभिलेख है। इस प्रकार यह अतिरिक्त रूपेण प्रमाणित करता है कि अशोक ने व्यक्तिगत रूप से बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। शायद उसने इस लेख में जिस स्तूप का उल्लेख किया है वह साहित्य में उल्लिखित अशोकराम रहा होगा। बाद में बुद्ध के पवित्र अवशेषों को इस प्रकार स्थापित कराने की परम्परा बराबर प्रचलित रही। दे० पिप्राहवा-लेख, टि०।

(४) अहरौरा अभिलेख भाब्रु-लेख के अतिरिक्त दूसरा अशोकीय लेख है जिसमें गौतम बुद्ध का नाम आया है। यह एक मात्र अभिलेख है जिसमें यह निश्चित रूप से ज्ञात होता है कि अशोक भगवान बुद्ध के अवशेषों को प्रतिष्ठित करने के तत्काल बाद दौरे पर निकल गया था। इससे अशोक के अभिलेखों का तिथिक्रम तय करने में सहायता मिलती है।

गुजर्रा लघु शिलालेख

(गुजर्रा संस्करण)

मूलपाठ

१. देव (ा नं) पिय [स] पियदसिनो असोकराजस (।*) अ [ढ] तियानि स [ं] वछरानि उपासके (ऽ*) स्मि । (।*) साधिके स [ं] वछ [रे] य च मे संघे य [ा] ते ती [अह] ं वा –

२. ढ [ं] च परकंते ती [आ] हा (।*) एतेना अंतरेणा जंबुदीपसि देवानंपीय [स] [अ] मिसंदेवा संतो मुनिस मिसंदेवा कटा (।*) परकमस इयं फले (।*) नो [च इ] यं महनेता ति व

३. चकिये पापोतवे (।*) खुदाकेण पी परकममीनेना धंमं चरमीनेना पानेसू संयतेना विपुले पी स्वगे चकिये आराधयितवे (।*) चे एताये

४. अठा [ये] इयं सावणे (।*) खुदाके चा उडारे चा धंमं चरंतू [यो] गं युं जं तू (।*) अंता पि चा जानंतू किति च चिलथि [ति] के धंमच···

५. ···[सि] ति [च] एनं [वा] धंमं चर [ं] अति [यो] (।*) इयं [च] सावन विवुथे [न] [२००] (+*) ५० (+*) ६ (।*)

म्भिक अभिलेखों में माना जाता है। दूसरे, यह प्रश्न भी उठता है कि अशोक ने बुद्ध-सम्वत् का प्रयोग केवल इसी लेख में क्यों किया है अन्य अभिलेखों में क्यों नहीं। शंकरनारायणन ने इस अंश का पाठ "आंमं च वुधस सलीले आलोढ़े ति" सुझाकर इसका संस्कृत रूप "आश्मं च वुद्धस्य शरीरं आरूढं (=आरोपितं इति)" बताया है और यहाँ वुद्ध अथवा उनके किसी प्रतीक की मूर्ति की स्थापना का उल्लेख माना है। परन्तु 'शरीर' शब्द का प्रयोग सम्पूर्ण वौद्ध साहित्य व अभिलेखों में 'प्रतिमा' अर्थ में नहीं वरन् 'देहावशेष' अर्थ में ही मिलता है। बौद्ध परम्परानुसार भगवान् वुद्ध के अवशेष पहिले कुसीनारा में मल्लों के पास थे जिनके राज्य में उनका देहावसान हुआ था। लेकिन बाद में मगध नरेश अजातशत्रु, वैशाली के लिच्छवियों, कपिलवस्तु के शाक्यों, अल्लकप्प के वुलियों, रामग्राम के कोलियों, वेठदीप के एक ब्राह्मण तथा पावा के मल्लों ने उनको कुसिनारा के मल्लों के साथ मिलकर आठ भागों में बाँट लिया और उनपर स्तूप बनवाए। बाद में अशोक ने उन स्तूपों को खुलवाकर उनके स्थान पर पवित्र अवशेषों को पुनर्स्थापित कराने के लिए ८४,००० स्तूपों का निर्माण कराया। अहरौरा-अभिलेख अशोक द्वारा वुद्धावशेषों पर स्तूप बनवाने का उल्लेख करने वाला प्रथम अभिलेख है। इस प्रकार यह अतिरिक्त रूपेण प्रमाणित करता है कि अशोक ने व्यक्तिगत रूप से बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। शायद उसने इस लेख में जिस स्तूप का उल्लेख किया है वह साहित्य में उल्लिखित अशोकराम रहा होगा। बाद में बुद्ध के पवित्र अवशेषों को इस प्रकार स्थापित कराने की परम्परा बराबर प्रचलित रही। दे० पिप्राहवा-लेख, टि०।

(४) अहरौरा अभिलेख भाब्रु-लेख के अतिरिक्त दूसरा अशोकीय लेख है जिसमें गौतम बुद्ध का नाम आया है। यह एक मात्र अभिलेख है जिसमें यह निश्चित रूप से ज्ञात होता है कि अशोक भगवान बुद्ध के अवशेषों को प्रतिष्ठित करने के तत्काल बाद दौरे पर निकल गया था। इससे अशोक के अभिलेखों का तिथिक्रम तय करने में सहायता मिलती है।

भाब्रु (कलकत्ता-बैराट) शिलाफलक अभिलेख

मूलपाठ

१. प्रियदसि लाजा मागधे संघं अभिवादेतूनं आहा अपाबाधतं च फासु-विहालतं चा [।]

२. विदिते वे भंते आवतके हमा बुधसि धंमसि संघसी ति गालवे चं प्रसादे च [।] ए केचि भंते

३. भगवता बुधेन भासिते सर्वे से सुभासिते वा [।] ए चु खो भंते हमियाये दिसेया हेवं सधंमे

४. चिलठितीके होसती ति अलहामि हकं तं वातवे [।] इमानि भंते धंम-पलियायानि विनयसमुकसे

५. अलियवसानि अनागतभयानि मुनिगाथा मोनेयसूते उपतिसपसिने ए चा लाघुलो

६. वादे मुसावादं अधिगिच्य भगवता बुधेन भासिते एतानि भंते धंमपलिया-यानि इछामि

७. किंति बहुके भिखुपाये चा भिखुनिये चा अभिखिनं सुनेयु चा उपधालयेयू चा [।]

८. हेवंमेवा उपासका चा उपासिका चा [।] एतेनि भंते इमं लिखापयामि अभिप्रेतं मे जानंतू ति [॥]

पाठ-टिप्पणी—सेना ने 'प्रियदसि' को 'पियदसी' पढ़ा है तथा सरकार ने 'पियदसि' पाण्डेय ने एक स्थान पर 'प्रियदसि' पाठ माना है (हि० लि० इ०) तथा अन्यत्र 'पियदसि' (अशोक के अभिलेख)। सेना ने 'मागधे' को 'मागधं' पढ़ा है, पाण्डेय ने एक स्थान पर 'मागधं' (अशोक के अभिलेख) तथा अन्यत्र 'मागधे' (हि० लि० इ०) सेना ने प्रथम पंक्ति में 'अभिवादेतूनं' को 'अभिवादनं' पढ़ा है, दूसरी पंक्ति में 'गालवे' को 'गलवे' और 'प्रसादे' को 'पसादे', तीसरी में 'सर्वे' को 'सवे' तथा चौथी में 'वातवे' को 'वतवे'। सरकार दूसरी पंक्ति में 'प्रसादे', को 'पंसादे' पढ़ते हैं तथा पाँचवीं में 'अलियवसानि' को 'अलियवसाणि'। निकलसन ने 'अधिगिच्य' का पाठ 'अधिगिध्य' माना है।

लघु शिलालेख

(ब्रह्मगिरि संस्करण)

मूलपाठ

१. सुवंणगिरीते अयपुतस महामाताणं च वचनेन इसिलसि महामाता आरोगियं वतविया हेवं च वतविया [।] देवाणंपिये आणपयति
२. अधिकानि अढातियानि वसानि य हकं ······सके [।] नो तु खो बाढं प्रकंते हुसं एकं सवछरं [।] सातिरेके तु खो संवछरें
३. यं मया संघे उपयीते बाढं च मे पकंते [।] इमिना चु कालेन अमिसा समाना मुनिसा जंबुदीपसि
४. मिसा देवेहि [।] पकमस हि इयं फले [।] नो हीयं सक्ये महात्पेनेव पापोतवे कामं तु खो खुदकेन पि
५. पकमि···णेण विपुले स्वगे सक्ये आराधेतवे [।] एतायठाय इयं सावणे सावापिते
६. ·······महात्पा च इमं पकमेयु ति अंता च मे जानेयु चिरठितीके च इयं
७. पक·······इयं च अठे वढिसिति विपुलं पि च वढिसिति अवरधिया दियढियं
८. वढिसिति [।] इयं च सावणे सावापिते व्यूथेन [।] २०० ५० ६ [।]
९. आह [।] मातापितिसु सुसूसितविये हेमेव गरुसु प्राणेसु द्रह्यितव्यं सचं
१०. वतवियं से इमे धमंगुणा पवतितविया [।] हेमेव अंतेवासिना
११. आचरिये अपचायितावियेे जातिकेसु च कं य·······रहं पवतितविये [।]
१२. एसा पोराणा पकिती दीधावुसे च एस [।] हेवं एस कटिविये [।]
१३. चपडेन लिखिते लिपिकरेण [।।]

भाब्रु (कलकत्ता-बैराट) शिलाफलक अभिलेख

मूलपाठ

१. प्रियदसि लाजा मागधे संघं अभिवादेतूनं आहा अपाबाधतं च फासु-विहालतं चा [।]

२. विदिते वे भंते आवतके हमा बुधसि धंमसि संघसी ति गालवे चं प्रसादे च [।] ए केचि भंते

३. भगवता बुधेन भासिते सर्वे से सुभासिते वा [।] ए चु खो भंते हमियाये दिसेया हेंवं सधंमे

४. चिलठितीके होसती ति अलहामि हकं तं वातवे [।] इमानि भंते धंम-पलियायानि विनयसमुकसे

५. अलियवसानि अनागतभयानि मुनिगाथा मोनेयसूते उपतिसपसिने ए चा लाघुलो

६. वादे मुसावादं अधिगिच्य भगवता बुधेन भासिते एतानि भंते धंमपलिया-यानि इछामि

७. किंति बहुके भिखुपाये चा भिखुनिये चा अभिखिनं सुनेयु चा उपधालयेयू चा [।]

८. हेवंमेवा उपासका चा उपासिका चा [।] एतेनि भंते इमं लिखापयामि अभिप्रेतं मे जानंतू ति [।।]

पाठ-टिप्पणी—सेना ने 'प्रियदसि' को 'पियदसी' पढ़ा है तथा सरकार ने 'पियदसि' पाण्डेय ने एक स्थान पर 'प्रियदसि' पाठ माना है (हि० लि० इ०) तथा अन्यत्र 'पियदसि' (अशोक के अभिलेख)। सेना ने 'मागधे' को 'मागधं' पढ़ा है, पाण्डेय ने एक स्थान पर 'मागधं' (अशोक के अभिलेख) तथा अन्यत्र 'मागधे' (हि० लि० इ०) सेना ने प्रथम पंक्ति में 'अभिवादेतूनं' को 'अभिवादनं' पढ़ा है, दूसरी पंक्ति में 'गालवे' को 'गलवे' और 'प्रसादे' को 'पसादे', तीसरी में 'सर्वे' को 'सवे' तथा चौथी में 'वातवे' को 'वतवे'। सरकार दूसरी पंक्ति में 'प्रसादे', को 'पंसादे' पढ़ते हैं तथा पाँचवीं में 'अलियवसानि' को 'अलियवसाणि'। निकलसन ने 'अधिगिच्य' का पाठ 'अधिगिच्य' माना है।

शब्दार्थ

अभिवादेतूनं = अभिवादन करके ; **अपाबाधतं** = निर्विघ्नता, स्वास्थ्य ; **फासु-विहालतं** = सुखविहारता ; **भंते** = भदन्ताः अथवा भवन्तः ; **आवतके** = यावत् ; **गालवे** = गौरव, श्रद्धा ; **प्रसादे** = प्रसादः, परानुरक्ति, विश्वास ; **ए कोचि** = यत्-किञ्चित्, जो कुछ भी ; **ए च** = यत् च, और जो ; **खो** = खलु ; **हमियाये** = मया, मेरे द्वारा, मुझे ; **दिसेया** = दिखाई देता है ; **चिलठितीके** = चिरस्थितकः, चिरस्थायी ; **होसती** = होगा ; **अलहामि** = अर्हामि, मैं योग्य हूँ, मेरा कर्तव्य है ; **वातवे** = वक्तुं, कहना, घोषणा करना ; **हकं** = अहम् ; **मुसावादं** = मृषावाद, (मृषा = मिथ्या) ; **अधिगिच्य** = अधिकृत्य ; **मुसावादं अधिगिच्य** = मृषावाद का विवेचन करते हुए ; **पलियाय** = धर्मग्रन्थ ; **अभिखिने** = अभिखिनं = अभिक्षणं, प्रतिक्षण ; **सुनेयु** = सुनें , **उपधालयेयु** = मनन करें।

अनुवाद

मगध के राजा प्रियदर्शी ने संघ को अभिवादन करके कहा—("मैं आपके) स्वास्थ्य और सुखविहार की (कामना करता हूँ)। आप लोगों को विदित है (कि) बुद्ध, धम्म और संघ में मेरी कितनी श्रद्धा और अनुरक्ति है। भदन्तो ! जो कुछ भी भगवान् बुद्ध द्वारा भाषित है वह सब सुभाषित है। किन्तु भदन्तो ! जो कुछ मुझे दिखाई देता है (अर्थात् प्रतीत होता हैं) कि 'धर्म चिरस्थायी होगा' योग्य हूँ मैं उसे कहने को (अर्थात् उसे कहना, उसकी घोषणा करना, मेरा कर्त्तव्य है)। भदन्तो ? ये धर्म पर्याय हैं—विनयसमुकस, अलियवसानि, अनागतभयानि, मुनिगाथा, मोनेयसूत, उपतिस पसिन तथा लाघुलोवाद में मुषावाद का विवेचन करते हुए भगवान् बुद्ध द्वारा जो कुछ भी कहा गया है। भदन्तो ! मैं चाहता हूँ—क्या ?—कि इन धर्मपर्यायों को बहुसंख्यक भिक्षुपाद व भिक्षुणियाँ प्रतिक्षण सुनें और (उन-पर) मनन करें। इसी प्रकार उपासक और उपासिकाएँ भी। भदन्तो ! इसी प्रयो-जन के लिए इसे लिखवाता हूँ कि (लोग) मेरे अभिप्राय को जान लें।

व्याख्या

(१) यह लेख एक पाषाण फलक पर उत्कीर्ण है। सप्तम शि० ले० की २२वीं पंक्ति में शिला फलकों का उल्लेख मिलता है।

(२) **मागधे संघं**—हुल्त्ज़ व बरुआ ने 'मागध' को राजा का विशेषण माना है। उन्होंने अपने समर्थन में 'विनय पिटक' (राजा मागधो सेनियो बिम्बिसारो), महापरिनिब्बान सुत्तन्त (राजा मागधो अजातसत्तु) तथा भरहुत-लेख (राजा पसेनदि कोसलो) के उदाहरण दिए हैं। हुल्त्ज़ 'मागध' का अर्थ 'मगध का' करते हैं और बरुआ 'मगध जातीय'। लेकिन रा० ब० पाण्डेय का कहना है कि अशोक के अभिलेखों में राजा के विशेषण प्रायः पूर्वगामी हैं, इसलिए यहाँ 'मागध' शब्द संघ

का विश्लेषण होना चाहिए। परन्तु राजस्थान में उत्कीर्ण कराए गए लेख में 'मगध के संघ' की चर्चा होना संभव नहीं लगता। सरकार ने इस पद की संस्कृत-छाया "राजा (मगधदेशीयः) संघं" दी है।

(३) **भंते**—'भन्त' और भदन्त' दोनों को सामान्यतः 'भवत्' से व्युत्पन्न माना जाता है। पालि में कभी-कभी 'द' का आगम हो जाता है जैसे 'स्वार्थ' से 'सदत्थं' बनते समय। बरुआ और सिनहा के अनुसार 'भदन्त' शब्द 'भद्रान्त' से निकलता है और कुछ अन्य विद्वानों के अनुसार 'भद्रं ते' वाक्य से जिसके द्वारा भिक्षु-गण नमस्कार का उत्तर प्रायः देते थे।

(४) **पसाद**=प्रसाद=प्रसन्नता। 'चित्त पसाद' और 'मनोपसाद' शब्द में यह बौद्ध धर्म में 'सद्धर्म में विश्वास' के लिए प्रयुक्त हुआ है क्योंकि इससे बौद्ध धर्मावलम्बियों को मानसिक प्रसन्नता=शान्ति मिलती थी।

(५) **बुधसि, धमंसि संघसि**—यह बौद्ध धर्म का प्रवज्या मन्त्र है। इससे यह प्रश्नातीत रूप से प्रमाणित होता है कि अशोक व्यक्तिगत रूप से बौद्ध था।

(६) **धंम पलियायानि**=धर्मपर्यायाः। अशोक के अभिलेखों में किसी धर्म के सिद्धान्तों की परम्परा के लिए 'आगम' शब्द का प्रयोग हुआ है। (दे० द्वादश शि० ले०—कलाणागमा)। 'निकाय' शब्द का प्रयोग भी उसने राजपुरुषों या सम्प्रदायों के वर्गों के लिए किया है, बौद्ध धर्म ग्रन्थों के समूह के लिए नहीं। 'पिटक' शब्द उसके लेखों में पूर्णतः अज्ञात है। इससे लगता है कि उसके समय तक 'पिटक' और उसके अन्तर्गत 'निकाय' साहित्य अपने वर्तमान रूप में अस्तित्व में नहीं आये थे। इस लेख में अशोक ने बौद्ध धर्म ग्रन्थों के लिए 'पलियाय' शब्द का प्रयोग किया है। स्वयं बुद्ध ने यह शब्द धम्म के किसी पक्ष पर प्रदत्त तर्क संगत उपदेश के लिए सुझाया था (बरुआ, अशोक एण्ड हिज इन्स्क्रिप्शन्स् भाग २, पृ० २९)। स्वयं 'पालि' शब्द भी 'पलियाय' का संबंधी है। सर्वास्तिवाद-साहित्य में 'पर्यायसूत्र' शब्द का प्रयोग हुआ है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अशोक के समय पालि त्रिपिटक तो अस्तित्व में नहीं आया था, कुछ धर्म पलियाय—धंम पर्याय थे जिसमें बुद्धवचन सुत्तों के रूप में संगृहीत थे। अशोक ने इनमें कुछ प्रमुख सुत्तों का चयन करके उन्हें लोकप्रिय बनाने की चेष्टा की। इस प्रकार के प्रयास अन्य लोगों ने भी किए जैसा कि 'महावंस', 'मलिन्दपञ्हो' व 'विसुद्धिमग्ग' आदि जैसे ग्रन्थों में उपलब्ध इस प्रकार की सूचियों से स्पष्ट है।

अशोक ने निज धंम पलियायों का नाम लिया है उनकी पहिचान आजकल उपलब्ध किन प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों से की जाय, इसके विषय में पर्याप्त विवाद है। कुछ विद्वान् जैसे एन० के० शास्त्री मानते हैं कि इन ग्रन्थों की पहिचान सदैव सन्देह-ग्रस्त रहेगी क्योंकि अशोक ने सिवाय 'राहुलवाद' के (जिसमें उसके अनुसार मृषावाद

का विवेचन था) और किसी ग्रन्थ की विषय-वस्तु की ओर संकेत नहीं किया है। दूसरे, प्राचीन काल में एक ही ग्रन्थ कई नामों से प्रचलित हो जाता था, इसलिए आजकल उनको पहिचानने में परेशानी होना स्वाभाविक है। विभिन्न विद्वानों ने इस विषय में जो मत रखे हैं उनमें प्रमुख मत निम्नलिखित हैं :

१. **विनय समुकस** = संस्कृत नाम 'विनय समुत्कर्ष। एन० एस० मित्र: 'दीघ निकाय' का 'सिगालोवाद सुत्त'। ज नार्दन भट्ट : 'पातिमोक्ख'। भाण्डारकर : 'सुत्त निपात' का 'तुवट्ठकसुत्त'। सरकार:, 'अंगुत्तर' का 'अट्ठवसवग्ग'। अन्य: 'धम्मचक्कपवत्तन सुत्त, 'मज्झिम०' का 'सप्पुरिस सुत्त'।

२. **अलियवसानि** = आर्यवंशाः आर्यवासाः। बरुआ, भाण्डारकर और धर्मानन्द कौशाम्बी : 'अंगुत्तर', २, का 'महाअरियवंस'। रीज़डेविड्स : 'अंगुत्तर', ३, का अरियवास'।

३. **अनागतभयानि** = बरुआ : यह आगुत्तर, ३, में हैं।

४. **मुनिगाथा** = बरुआ : 'सुत्तनिपात' का 'मुनिसुत्त'। यह 'दिव्यावदान' 'में भी 'मुनिगाथा' नाम से उल्लिखित है।

५. **मोनेयसूत्त**—संस्कृत 'मौनेयसूत्रम्'। कौशाम्बी, भाण्डारकर व सरकार : 'सुत्त निपात' का 'नालक सुत्त'। रीज़डेविड्स: 'इतिवत्तुक' का लघु 'मौनेय सुत्त'।

६. **उपतिस पसिने**—संस्कृत उपतिष्यप्रश्न'। भाण्डारकर तथा सरकार : 'मज्झिम' का 'रथविनीतसुत्त'। रा० ब० पाण्डेय : 'सुत्तनिपात' का 'सारिपुत्त सुत्त'। उपतिस सारिपुत्त का ही दूसरा नाम था। 'रथविनीत सूत्त' में सारिपुत्त के के प्रश्न ही दिए गए हैं।

७. **लाहुलोवाद**—संस्कृत नाम राहुलवाद। सेना : 'मज्झिम', २, का 'अम्बलट्ठिक राहुलोवाद'। 'मज्झिम' में दो राहुलवाद और हैं 'महाराहुलवाद' और 'चूल (लघु) राहुलवाद'। स्पष्ट है अशोक की 'अम्बलट्ठिक राहुलवाद' के अलावा अन्य राहुलवाद भी ज्ञात थे।

भाण्डारकर ने अशोक के धर्मपर्यायों की पहचान के लिए बुद्धघोष के 'विशुद्धिमग्ग' की एक कथा की ओर ध्यान दिया है इसमें कहा गया है कि एक तरुण भिक्षु तीन मास तक अपनी माता के पास रहने के बावजूद यह कभी नहीं कहता कि "तू मेरी माँ है,मैं तेरा पुत्र हूँ"। वह इस आदर्श को निभा सका क्योंकि उसने बुद्ध द्वारा 'रथविनीतपटिपद्म', नालकपटिपद्म' 'तुवटक पटिपदम्' तथा 'महाअरियवंसपटिपद्म' में बताए गए आचार-मार्ग का पालन किया था। इस प्रकार बुद्धघोष इन चार बौद्ध धर्मन्थों की उपयोगिता पर विशेष बल देता है।इनकी पहिचान अशोक के द्वारा प्रचारित 'मोनेयसुत' ('नालकपटिपद्म'), 'उपतिस पसिन', ('रथविनीतपटिपद्म')

'अलियवसानि' ('महाअरियवंसपटिपद्म) तथा 'विनयसमुकस' ('तुवट्ठकपटिपद्म') से की जा सकती है।

अशोक ने जिन ग्रन्थों को धंमपलियाय माना है उनके (अगर उनमें चार की पहिचान बुद्धघोष द्वारा उल्लिखित उपर्युक्त ग्रन्थों से की जाय) अन्तःसाक्ष्य से स्पष्ट है कि अशोक बौद्धधर्म के दार्शनिक या कर्मकाण्डीय पक्ष में नहीं वरन् नैतिक पक्ष में दिलचस्पी रखता था। उदाहरणार्थ 'महाअरियंसपटिपद्म' में भिक्षुओं के चार आचार मार्गों का विधान है। इसमें कहा गया है कि भिक्षुओं को सादे वेश, सन्मार्ग से प्राप्त किए हुए सादे भोजन, छोटे-से-छोटे मकान, एवं ध्यान में आनन्द लेना चाहिए। 'मुनिगाथा' और 'मोनेयसूत' भी लगभग ऐसी ही बात कहते हैं। 'मुनिगाथा' में, जो प्रारम्भिक बौद्ध काव्य का अच्छा उदाहरण है, एकाकी रूप से ध्यान करने वाले भिक्षु के जीवन की गृहस्थों के परेशानियों से भरे जीवन से तुलनात्मक श्रेष्ठता बताई गई है। अशोक द्वारा बताए गए इन चार ग्रन्थों में एक भी ऐसा नहीं है जिसमें धर्म की वाह्य बातों में या मात्र संघ के वाह्य अनुशासन में दिलचस्पी ली गई हो। शायद इसीलिए वह अनुरोध करता है कि इन्हें केवल भिक्षुभिक्षुणियाँ ही नहीं साधारण जन भी सुनें।

अशोक द्वारा बताए गये बाकी ग्रन्थ भी ऐसे हैं जिसमें मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग में आने वाली बाधाओं एवं उनको दूर करने के उपायों का विवेचन है। उदाहरणार्थ 'अनागतभयानि' में भविष्य के (अनागत) उन भयों का उल्लेख है जो धार्मिक साधना में किसी समय भी बाधक हो सकते हैं—जैसे रोग, दुर्भिक्ष, युद्ध, फूट, मृत्यु आदि। मनुष्य को इन सबका ध्यान रखते हुए अपनी शक्तियों का उपयोग करना चाहिए। लेकिन इन भयों के अलावा, जो प्रकृत्या वाह्य होते हैं, कुछ ऐसे भी भय होते हैं जो आंतरिक अर्थात् मानसिक जीवन से सम्बन्धित होते हैं। वे मनुष्य की आध्यात्मिक सिद्धि में बाह्य भयों से भी अधिक बाधक सिद्ध हो सकते हैं। इनको जानने के लिए अशोक ने 'राहुलवाद' की ओर ध्यान दिलाया जिसमें बुद्ध ने अंबलट्ठिक राहुल को यह उपदेश दिया है कि दीक्षा के समय एवं उसके उपरान्त काया, वाणी और मन की प्रत्येक प्रक्रिया की कड़ाई से जाँच करते रहना चाहिए जिससे मनुष्य उपर्युक्त बाधाओं के कारण मिथ्याचरण में न फँस जाए।

(७) अशोक के द्वारा उल्लिखित पलियायों को प्रायः 'ग्रन्थ' कहा जाता है। परन्तु ध्यान रखना चाहिए कि उस समय तक ये 'ग्रन्थ' पुस्तकाकार नहीं थे, मौखिकरूपेण स्मरण किए जाते थे। स्वयं बौद्ध परम्परानुसार बौद्ध उपदेशों को लिखित रूप सर्वप्रथम लंका में प्रथम शती ई० पू० के अन्त में मिला था। दूसरे, जैसा कि हमने अन्यत्र दिखाया है ब्राह्मी लिपि का आविष्कार ही अशोक के युग में हुआ था। अतः उसके शासन काल में इन 'ग्रन्थों' का पुस्तकाकार होना असंभव न होते हुए भी दुःसम्भाव्य था।

का विवेचन था) और किसी ग्रन्थ की विषय-वस्तु की ओर संकेत नहीं किया है। दूसरे, प्राचीन काल में एक ही ग्रन्थ कई नामों से प्रचलित हो जाता था, इसलिए आजकल उनको पहिचानने में परेशानी होना स्वाभाविक है। विभिन्न विद्वानों ने इस विषय में जो मत रखे हैं उनमें प्रमुख मत निम्नलिखित हैं :

१. **विनय समुकस** = संस्कृत नाम 'विनय समुत्कर्ष'। एन० एस० मित्र: 'दीघ निकाय' का 'सिगालोवाद सुत्त'। ज नार्दन भट्ट : 'पातिमोक्ख'। भाण्डारकर : 'सुत्त निपात' का 'तुवट्ठकसुत्त'। सरकार:, 'अंगुत्तर' का 'अट्ठवसवग्ग'। अन्य: 'धम्म-चक्कपवत्तन सुत्त, 'मज्झिम०' का 'सप्पुरिस सुत्त'।

२. **अलिवसानि** = आर्यवंशा: आर्यवासा: । बरुआ, भाण्डारकर और धर्मानन्द कौशाम्बी : 'अंगुत्तर', २, का 'महाअरियवंस'। रीज़डेविड्स : 'अंगुत्तर', ३, का अरियवास'।

३. **अनागतभयानि** = बरुआ : यह आगुत्तर, ३, में हैं।

४. **मुनिगाथा** = बरुआ : 'सुत्तनिपात' का 'मुनिसुत्त'। यह 'दिव्यावदान' 'में भी 'मुनिगाथा' नाम से उल्लिखित है।

५. **मोनेयसूत्त**—संस्कृत 'मौनेयसूत्रम्'। कौशाम्बी, भाण्डारकर व सरकार : 'सुत्त निपात' का 'नालक सुत्त'। रीज़डेविड्स: 'इतिवत्तुक' का लघु 'मौनेय सुत्त'।

६. **उपतिस पसिने**—संस्कृत उपतिष्यप्रश्न'। भाण्डारकर तथा सरकार : 'मज्झिम' का 'रथविनीतसुत्त'। रा० ब० पाण्डेय : 'सुत्तनिपात' का 'सारिपुत्त सुत्त'। उपतिस सारिपुत्त का ही दूसरा नाम था। 'रथविनीत सूत्त' में सारिपुत्त के के प्रश्न ही दिए गए हैं।

७. **लाहुलोवाद**—संस्कृत नाम राहुलवाद। सेना : 'मज्झिम', २, का 'अम्बलट्ठिक राहुलोवाद'। 'मज्झिम' में दो राहुलवाद और हैं 'महाराहुलवाद' और 'चूल (लघु) राहुलवाद'। स्पष्ट है अशोक को 'अम्बलट्ठिक राहुलवाद' के अलावा अन्य राहुलवाद भी ज्ञात थे।

भाण्डारकर ने अशोक के धर्मपर्यायों की पहचान के लिए बुद्धघोष के 'विशुद्धि-मग्ग' की एक कथा की ओर ध्यान दिया है इसमें कहा गया है कि एक तरुण भिक्षु तीन मास तक अपनी माता के पास रहने के बावजूद यह कभी नहीं कहता कि "तू मेरी माँ है,मैं तेरा पुत्र हूँ"। वह इस आदर्श को निभा सका क्योंकि उसने बुद्ध द्वारा 'रथविनीतपटिपद्म', नालकपटिपद्म' 'तुवटक पटिपदम्' तथा 'महाअरियवंसपटि-पद्म' में बताए गए आचार-मार्ग का पालन किया था। इस प्रकार बुद्धघोष इन चार बौद्ध धर्मन्थों की उपयोगिता पर विशेष बल देता है।इनकी पहिचान अशोक के द्वारा प्रचारित 'मोनेयसुत' ('नालकपटिपद्म'), 'उपतिस पसिन', ('रथविनीतपटिपद्म')

'अलियवसानि' ('महाअरियवंसपटिपदा) तथा 'विनयसमुकस' ('तुवट्ठकपटिपदा') से की जा सकती है।

अशोक ने जिन ग्रन्थों को धंमपलियाय माना है उनके (अगर उनमें चार की पहिचान बुद्धघोष द्वारा उल्लिखित उपर्युक्त ग्रन्थों से की जाय) अन्तःसाक्ष्य से स्पष्ट है कि अशोक बौद्धधर्म के दार्शनिक या कर्मकाण्डीय पक्ष में नहीं वरन् नैतिक पक्ष में दिलचस्पी रखता था। उदाहरणार्थ 'महाअरियंसपटिपदा' में भिक्षुओं के चार आचार मार्गों का विधान है। इसमें कहा गया है कि भिक्षुओं को सादे वेश, सन्मार्ग से प्राप्त किए हुए सादे भोजन, छोटे-से-छोटे मकान, एवं ध्यान में आनन्द लेना चाहिए। 'मुनिगाथा' और 'मोनेयसूत' भी लगभग ऐसी ही बात कहते हैं। 'मुनिगाथा' में, जो प्रारम्भिक बौद्ध काव्य का अच्छा उदाहरण है, एकाकी रूप से ध्यान करने वाले भिक्षु के जीवन की गृहस्थों के परेशानियों से भरे जीवन से तुलनात्मक श्रेष्ठता बताई गई है। अशोक द्वारा बताए गए इन चार ग्रन्थों में एक भी ऐसा नहीं है जिसमें धर्म की बाह्य बातों में या मात्र संघ के वाह्य अनुशासन में दिलचस्पी ली गई हो। शायद इसीलिए वह अनुरोध करता है कि इन्हें केवल भिक्षुभिक्षुणियाँ ही नहीं साधारण जन भी सुनें।

अशोक द्वारा बताए गये बाकी ग्रन्थ भी ऐसे हैं जिसमें मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग में आने वाली बाधाओं एवं उनको दूर करने के उपायों का विवेचन है। उदाहरणार्थ 'अनागतभयानि' में भविष्य के (अनागत) उन भयों का उल्लेख है जो धार्मिक साधना में किसी समय भी बाधक हो सकते हैं—जैसे रोग, दुर्भिक्ष, युद्ध, फूट, मृत्यु आदि। मनुष्य को इन सबका ध्यान रखते हुए अपनी शक्तियों का उपयोग करना चाहिए। लेकिन इन भयों के अलावा, जो प्रकृत्या बाह्य होते हैं, कुछ ऐसे भी भय होते हैं जो आतरिक अर्थात् मानसिक जीवन से सम्बन्धित होते हैं। वे मनुष्य की आध्यात्मिक सिद्धि में बाह्य भयों से भी अधिक बाधक सिद्ध हो सकते हैं। इनको जानने के लिए अशोक ने 'राहुलवाद' की ओर ध्यान दिलाया जिसमें बुद्ध ने अंबलट्ठिक राहुल को यह उपदेश दिया है कि दीक्षा के समय एवं उसके उपरान्त काया, वाणी और मन की प्रत्येक प्रक्रिया की कड़ाई से जाँच करते रहना चाहिए जिससे मनुष्य उपर्युक्त बाधाओं के कारण मिथ्याचरण में न फँस जाए।

(७) अशोक के द्वारा उल्लिखित पलियायों को प्रायः 'ग्रन्थ' कहा जाता है। परन्तु ध्यान रखना चाहिए कि उस समय तक ये 'ग्रन्थ' पुस्तकाकार नहीं थे, मौखिकरूपेण स्मरण किए जाते थे। स्वयं बौद्ध परम्परानुसार बौद्ध उपदेशों को लिखित रूप सर्वप्रथम लंका में प्रथम शती ई० पू० के अन्त में मिला था। दूसरे, जैसा कि हमने अन्यत्र दिखाया है ब्राह्मी लिपि का आविष्कार ही अशोक के युग में हुआ था। अतः उसके शासन काल में इन 'ग्रन्थों' का पुस्तकाकार होना असंभव न होते हुए भी दुःसम्भाव्य था।

(८) अशोक द्वारा उल्लिखित 'ग्रन्थों' की भाषा न संस्कृत थी और न संभवत: पालि। वह जो नाम देता है उनमें मागधी बोली का प्रभाव है (जैसे 'अरिय' को 'अलिय' तथा 'राहुलो' को 'राघुलो' कहे जाने में)। अत: हो सकता है उसके काल में ये 'ग्रन्थ' मागधी प्राकृत में रहे हों। हर हालत में इतना स्पष्ट है कि उसके काल में त्रिपिटक-रचना की प्रारम्भिक अवस्था चल रही थी, सम्पूर्ण त्रिपिटक अस्तित्व में नहीं आया था।

प्रथम स्तम्भ-लेख

(देहली-टोपरा संस्करण)

मूलपाठ

१. देवानंपिये पियदसि लाज हेवं आहा [।] सडुवीसति
२. वसअभिसितेन मे इयं धंमलिपि लिखापिता [।]
३. हिदतपालते दुसंपटिपादये अंनत अगाया धंमकामताया
४. अगाय पलीखाया अगाय सुसूयाया अगेन भयेना
५. अगेन उसाहेना [।] एस चु खो मम अनुसथिया
६. धंमापेखा धंमकामता चा सुवे सुवे वढिता वढीसति चेवा [।]
७. पुलिसा पि च मे उकसा चा गेवया चा मझिमा चा अनुविधीयंती
८. संपटिपादयंति चा अलं चपलं समादपयितवे [।] हेमेव अंत
९. महामाता पि [।] एस हि विधि या इयं धमेन पालना धमेन विधाने
१०. धंमेन सुखियना धंमेन गोती ति

द्वितीय स्तम्भ-लेख

(देहली-टोपरा)

मूलपाठ

१०. देवानंपिये पियदसि लाज
११. हेव आहा [।] धमे साधू कियं चु धंमे ति [।] अपासिनवे बहु कयाने
१२. दया दाने सचे सोचये [।] चखुदाने पि मे बहुविधे दिंने [।] दुपद
१३. चतुपदेसु पखिवालिचलेसु विविधे मे अनुगहे कटे आ पान
१४. दाखिनाये [।] अंनानि पि च मे बहूनि कयानानि कटानि [।] एताये मे
१५. अठाये इयं धंमलिपि लिखापिता हेवं अनुवटिपजंतु चिलं
१६. थितिका च होतू ती ति [।] ये च हेवं संपटिपजीसति से सुकटं कछतीति

पाठ-टिप्पणी—यह लेख प्रथम स्त० ले० की अन्तिम अर्थात् दसवीं पंक्ति से ही शुरू हो जाता है। इस तरह सम्पूर्ण लेख की १०वीं पंक्ति इस दूसरे लेख की प्रथम पंक्ति है। सेना और ब्युलर ने 'लाज' को 'लाजा' पढ़ा है। अन्तिम पंक्ति में 'होतू तीति' के स्थान पर अन्य संस्करणों 'होतू ति' पाठ है। दूसरी पंक्ति में—'वे' के बाद एक आधारवत् रेखा और तीसरी में 'मे' के बाद एक लम्बवत् रेखा निष्प्रयोजन उत्कीर्ण हैं।

शब्दार्थ

कियं चु=क्या है ? **अपासिनवे**=अल्पासिनव, अल्प पाप ; **बहुकयाने**=बहुकल्याण ; **चक्षुदाने**=चक्षुदान, ज्ञान दृष्टि, प्रज्ञादान ; **दिने**=दत्तम्, दिया गया ; **दुपद**=द्विपद, मनुष्य; **चतुपद**=चौपाये, पशु ; **वालिचल**=जलचर प्राणी; **आ पानदाखिनाए**='आप्राण-दक्षिणा तक' प्राणदान तक; **अठाये**=अर्थाय, प्रयोजन के लिए ; **अनुपटिपजंतु**=अनुसरण करें; **संपटिपजीसति**=स्वीकार करेंगे; **सुकट**=सुकृत

अनुवाद

देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा ने ऐसा कहा—"धर्म साधु है। (किन्तु) धर्म क्या है ? अल्पपाप, बहुकल्याण, दया (करना), दान (देना) सत्य (बोलना) (और) शुचिता (पवित्रता)। ज्ञान दृष्टि भी मेरे द्वारा विविध प्रकार की दी गई। मनुष्यों, चौपायों (= पशुओं) जलचरों पर विविध प्रकार के अनुग्रह मेरे द्वारा किए गए, प्राणदान तक (अर्थात् उनकी होने वाली हत्याओं को रोकने तक)। और अन्य भी बहुत से कल्याण मेरे द्वारा किए गए। इस प्रयोजन के हेतु मेरे द्वारा यह धर्मलिपि लिखवाई गई जिससे (लोग) इसका अनुसरण करें और (यह) चिरस्थायी होवे। जो इसे इस प्रकार स्वीकार करेंगे वे सुकृत करेंगे।

व्याख्या

(१) **आपिसनवे, बहुकयाने**—स्वयं यह प्रश्न करके कि " 'धंम' क्या है " अशोक वे छः सिद्धान्त बताता है जो धंम के अन्तर्गत आते हैं। इनमें प्रथम दो 'आपिसनवे' तथा 'बहुकयाने' हैं। 'आपिसनवे' शब्द 'अप' तथा 'आसिनव' के योग से बना है। अप = अल्प। 'आसिनव' को तृतीय स्तम्भ अभिलेख में 'पाप' कहा गया है। 'आसिनव' स्पष्टतः 'कयाने' (कल्याण) का विलोमार्थक है। पाँचवें शि० ले० व ७ वें स्त० ले० में 'कयाने' = 'पुण्य'। अतः 'आसिनवे' = 'पाप'। पञ्चम शि० ले० में 'कयाने' और 'पाप' विलोमार्थक शब्दों के रूप में प्रयुक्त हैं भी। ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक की दृष्टि में 'आसिनवे' पापपूर्ण कृत्य का नैतिक परिणाम था, उसी तरह जैसे 'कयाने' या पुण्य साधुकृत्य का नैतिक परिणाम होता है। तृतीय स्त० ले० में अशोक ने उन मानसिक विकारों का उल्लेख किया है जिनसे 'आसिनव' उत्पन्न होता है। वे हैं : चंडिये=प्रचण्डता ; निठुलिये=निष्ठुरता ; कोधे=क्रोध ; माने=घमंड इस्या=ईर्ष्या। भाण्डारकर का मत है कि इस विषय में अशोक पर जैन धर्म का प्रभाव बौद्ध धर्म से भी अधिक पड़ा था। उनका तर्क इस प्रकार है : तीसरे स्त० ले० में 'आसिनव' का उल्लेख 'पाप' के साथ किया गया है और दशम शि० ले० में 'अपुण्य' के अर्थ में 'पलिसवे' शब्द मिलता है। इसलिये पहिले-पहल यह प्रतीत होता है कि अशोक का 'आसिनव' वही है जो बौद्ध धर्म में आसव (आस्रव) कहलाता था। परन्तु बौद्ध जन तीन प्रकार के आसव मानते हैं : (१) कामासव (कामसुख) (२) भवासव (जीवन का मोह) और (३) अविज्जासव (अविद्या दोष।)

कभी-कभी वे इनमें एक चौथा रिट्ठ-आसव (नास्तिकता) भी जोड़ देते हैं। परन्तु अशोक जिन पाँच आसिनवों का उल्लेख करता है वे भिन्न प्रकार के हैं (चंडिये, निठुलिये, कोधे, माने तथा इस्या)। दूसरे, तृतीय स्त० ले० में अशोक ने 'आसिनव' व 'पाप' को जिस प्रकार साथ-साथ रखा है, बौद्ध दर्शन में पाप और आसव को उस प्रकार साथ-साथ नहीं रखा गया है। यह बात हमें जैन दर्शन में मिलती है। जैन दर्शन अट्ठारह प्रकार के पाप और बयालीस प्रकार के आसव गिनाता है। इन दोनों सूचियों में 'क्रोध' और 'मान' भी सम्मिलित हैं और पापों की सूची में 'इस्या' का भी उल्लेख मिलता है। 'निठुलिये' और 'चंडिये' शायद इन सूचियों की 'हिंसा' के अन्तर्गत माने जा सकते हैं। अतः स्पष्ट है कि अशोक का 'आसिनव' जैन 'आस्रव' के निकट है। इसी प्रकार अशोक का 'पलिसव' जैनधर्म का 'परिस्सव' हो सकता है। भाण्डारकर ने अशोक के 'आसिनव' को जैन 'आचारांगसूत्र' में प्रयुक्त शब्द 'अण्हय' का संवादी माना है। परन्तु बरुआ का कहना है 'अण्हय' का मनोविकार अर्थ में प्रयोग बौद्ध ग्रन्थ 'औपपातिक सूत्र' में भी मिलता है। हमारे विचार से इस प्रकार के विचार तत्कालीन भारत के सभी धर्मों में प्रचलित थे। तु०

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।
—गीता १६-२१

तथा

पैशुन्यं साहसं मोह ईर्ष्याऽसूयार्थदूषणम्।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः॥
—मनुस्मृति ७-४८.

(२) **दया दाने सचे सोचये**—ये चार गुण अशोक के धर्म का सकारात्मक पक्ष है। दया भावना अथवा अनुकम्पा से दान देने की प्रवृत्ति होती है। सच=सत्य निष्ठा और दृढ़भक्ति=सप्तम अभिलेख की दृढभतिता। सोचिये=शुद्धि=भावशुद्धि। यह संयम पर आधृत होती है। दया, दान सत्य व शुद्धि की महिमा हिन्दू धर्म मे भी मानी गई है। तु०

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
दानं दमो दया क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम्॥
— याज्ञवल्क्य, १.१२२

क्षमा सत्यं दमः शौचं दानमिन्द्रियसंयमः।
अहिंसा गुरु शुश्रूषा तीर्थानुसरणं दया॥
आर्जवं लोभ शून्यत्वं देवब्राह्मण पूजनम्।
अनभ्यसूया च तथा धर्मः सामान्य उच्यते॥
— विष्णु०, २.७-८

(३) **चखुदान**=प्रज्ञादान=ज्ञान दृष्टि का दान। यह नवें शि० ले० के धर्मदान का ही दूसरा नाम है। चखु=चक्षु=आलोक। 'इतिवत्तुक' में तीन प्रकार के चक्षुओं का उल्लेख है—मंस (मांस) चक्खु, दिव्व (दिव्य) चक्खु तथा पञ्ञा (प्रज्ञा) चक्खु। यहाँ तीसरा अर्थ अभीष्ट है। लेकिन सरकार के अनुसार इस लेख के चक्षुदान का आशय है कि अशोक ने उन अपराधियों को, जिनकी आँखें निकाल लिए जाने का दण्ड मिला था, माफ कर दिया था।

(४) **द्रुपद ......दाखिनाये**—अशोक द्वारा विभिन्न प्राणियों के साथ किए गए अनुग्रह के लिए दे० द्वितीय शि० ले० एवं पञ्चम तथा सप्तम स्त० ले०।

तृतीय स्तम्भ-लेख

(देहली-टोपरा संस्करण)

मूलपाठ

१७. देवानंपिये पियदसि लाज हेवं अहा [।] कयानंमेव देखति इयं मे

१८. कयाने कटे ति [।] नो मिन पापं देखति इयं मे पापे कटे ति इयं वा आसिनवे

१९. नामा ति [।] दुपटिवेखे चु खो एसा [।] हेवं चु खो एस देखिये [।] इमानि

२०. आसिनवगामीनि नाम अथ चंडिये निठूलिये कोधे माने इस्या

२१. कालनेन व हकं मा पलिभसयिसं [।] एस बाढ देखिये [।] इयं मे

२२. हिदतिकाये इयंमन मे पालतिकाये [॥]

चतुर्थ स्तम्भ-लेख

(देहली-टोपरा संस्करण)

मूलपाठ

१. देवानंपिये पियदसि लाज हेवं आहा [।] सडुवीसतिवस
२. अभिसितेन मे इयं धंमलिपि लिखापिता [।] लजूका मे
३. बहूसु पानसतसहसेसु जनसि आयता [।] तेसं ये अभिहाले वा
४. दंडे वा अतपतिये मे कटे किंति लजूका अस्वथ अभीता
५. कंमानि पवतयेवू जनस जानपदसा हितसुखं उपदेहवू
६. अनुगहिनेवु चा [।] सुखीयनदुखीयनं जानिसंति धमयुतेन च
७. वियोवढिसंति जन जानपदं किंति हिदतं पालतं च
८. आलाधयेवू ति [।] लजूका पि लघंति पटिचलितवे पुलिसानि पि मे मं [।]
९. छंदंनानि पटिचलिसंति [।] ते पि च कानि वियोवदिसंति येन मं लजूका
१०. चघंति आलाधयितवे [।] अथा हि पजं वियताये धातिये निसिजितु
११. अस्वथे होति वियत धाति चघति मे पजं सुखं पलिहटवे
१२. हेवं ममा लजूका कटा जानपदस हितसुखाये [ ] येन एते अभीता
१३. अस्वथ संतं अविमना कंमानि पवतयेवू ति एतेन मे लजूकानं
१४. अभिहाले व दंडे वा अतपतिये कटे [।] इछितविये हि एसा किंति
१५. वियोहालसमता च सिय दंडसमता चा [।] अव इते पि च मे आवुति
१६. बंधनबधानं मुनिसानं तीलितदंडानं पतवधानं तिंनि दिवसानि मे
१७. योते दिंने [।] नातिका व कानि निझपयिसंति जीविताये तानं
१८. नासंतं वा निझपयिता दानं दाहंति पालतिकं उपवासं व कछंति [।]
१९. इछा हि मे हेवं निलुधसि पि कालसि पालतं आलाधयेवू ति [।] जनस च
२०. वढति विविधे धंमचलने संयमे दानसविभागे ति [।]

पाठ-टिप्पणी—ब्युलर ने पंक्ति २ में 'अभिहाले' के स्थान पर 'अभीहाले' पढ़ा है । सोलहवीं पंक्ति में सेना व ब्युलर ने 'तीलित' के स्थान पर 'तीलीत' पढ़ा है ।

शब्दार्थ

सडुवीसति=छब्बीस ; **लजूका**=रज्जुक ; **पान**=प्राणी ; **आयता**=आयताः, नियुक्त ; **अभिहाले**=अभिहारः, अभियोग ; **अतपतिये**=आत्मपतिकः, अपने विवेक पर अवलम्बित, स्वतन्त्र ; **किंति**=क्यों ? **अस्वथ**=आश्वस्त ; **पवतयेवू**=प्रवृत्त हों ; **उपदहेवू**=व्यवस्था करें ; **अनुगहिनेवु**=अनुग्रह करे ; **सुखीयन**=सुख पहुँचाना ; **दुखीयन**=दुख पहुँचाना ; **जानिसंति**=जानेंगे ; **धंमयुतेन**=धर्मयुत द्वारा ; **वियोवदिसंति**=उपदेश करेंगे ; **हिदतं**=इहलौकिक ; **पालतं**=पारलौकिक ; **आलाधयेवू**=प्रयत्न करें ; **लघंति**=चेष्टा करते हैं ; **पटिचलितवे**=परिचर्या करने के लिए ; **पुलिसानि**=पुरुष अर्थात् राजपुरुषः, **छंदनानि पटिचलिसंति**=इच्छाओं का पालन करेंगे ; **चघंति**=चेष्टा करेंगे ; **आलाधयितवे**=प्रसन्न करने की ।

अथा=यथा, जिस प्रकार ; **पजं**=प्रजाको, सन्तानको ; **वियताये**=योग्य ; **निसिजितु**=सौंपकर ; **अस्वथे**=आश्वस्त ; **चघति**=चेष्टा करती है ; **पलिहटवे**=परिदातुम्, देने के लिए ; **अभीता**=निर्भय ; **अविमना**=प्रसन्नचित्त ; **पवतयेवू**=प्रवृत्त हों ; **अवुति**=आयुक्ति, आदेश ; **तीलिदंडानं**=दण्डप्राप्त ; **पतवधानं**=प्राप्तवधानं, मृत्युदण्ड-प्राप्त ; **योते**=योतकं, छूट ; **नातिका**=ज्ञातिकाः, जातिवाले ; **निझपयिसंति**=ध्यान आकृष्ट करेंगे ; **जीविताये तानं**=उनके जीवन (को बचाने) के लिए ; **नासंतं**=बध्यं ; **निझपयिता**=ध्यान करते हुए ; **दाहंति**=दास्यन्ति, देंगे ; **पालतिकं**=पारलौकिक कल्याण के लिए ; **इछा हि मे हेवं**=मेरी ऐसी इच्छा है ; **निलुधसि पि कालसि**=निरुद्ध काल में ; **पालतं आलाधयेवू**=परलोक की आराधना की जाय ; **धंमचलने**=धर्माचरण ; **दानसविभागे**=दानवितरण ।

अनुवाद

देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा ने ऐसा कहा है—छब्बीस वर्षों से अभिषिक्त मेरे द्वारा यह धम्मलिपि लिखवाई गई । मेरे रज्जुक कई लाख प्राणियों और जनों में नियुक्त हैं । उनको अभियोग अथवा दण्ड में (उनके) अपने विवेक पर अवलम्बित मैंने किया है (अर्थात् उनको अभियोग लगाने और दण्ड देने के अधिकार में जो स्वतन्त्रता है वह मेरे द्वारा दी गई है) । क्यों ?—(जिससे) रज्जुक आश्वस्त व निर्भय (होकर) कर्म में प्रवृत्त हों, जनों और जनपदों (नगरों और ग्रामक्षेत्र के निवासियों) को हितसुख पहुँचाने की व्यवस्था करें और (उनपर) अनुग्रह करें । वे सुखीयन व दुखीयन (के कारणों) को जानेंगे और धर्मयुत (लोगों या अधिकारियों) द्वारा जनपद के जनों को उपदेश करें । क्यों ?—जिससे (वे) इहलौकिक व पारलौकिक (कल्याण के हेतु) प्रयत्न करें । रज्जुक मेरी परिचर्या के लिए चेष्टा करते हैं । मेरे पुरुष (नानक पदाधिकारी) भी मेरी इच्छाओं का पालन करेंगे । वे भी कुछ लोगों को उपदेश करेंगे जिससे रज्जुक मुझे प्रसन्न करने की चेष्टा करेंगे ।

जिस प्रकार (माता-पिता) सन्तान को योग्य धाय (के हाथों में) सौंप कर आश्वस्त होते हैं—(ऐसा सोचकर कि) 'योग्य धाय मेरी सन्तान को सुख देने की चेष्टा करती है'—इसी प्रकार मेरे रज्जुक जानपदों के हित सुख के लिए नियुक्त हुए हैं। जिससे ये निर्भय और आश्वस्त होकर प्रसन्न मन से कर्मों में प्रवृत्त हों, इसलिए मेरे द्वारा रज्जुकों को अभिहार (=अभियोग लगाने का अधिकार) अथवा दण्ड (=दण्डाधिकार) में उनके अपने विवेक पर निर्भर (अर्थात् स्वाधीन) किया गया। इसकी इच्छा करनी चाहिए—क्या है वह (अर्थात् किस चीज की इच्छा) ? —व्यवहार-समता और दण्ड-समता होनी चाहिए। इसलिए यह मेरा आदेश है कि बन्दी मनुष्यों को. दण्ड प्राप्त (मनुष्यों) को (तथा) वधप्राप्त (अर्थात् मृत्यु-दण्ड प्राप्त) (मनुष्यों) को तीन दिनों की छूट मेरे द्वारा दी गई है। (उनकी) जाति वाले अथवा कोई (अर्थात् और कोई व्यक्ति) (रज्जुकों का ध्यान आकृष्ट करेंगे उनके जीवन को बचाने के लिए अथवा (उनके) वध का ध्यान करते हुए दान देंगे (उनके) पारलौकिक कल्याण के लिए, अथवा उपवास करेंगे। ऐसी मेरी इच्छा है—निरुद्ध काल में (छूट के काल में अथवा कारावास के काल में) परलोक का ध्यान किया जाना चाहिए। लोगों का विविध धर्माचरण बढ़े, संयम (और) दान का वितरण भी।

व्याख्या

(१) **अभिहाले वा दण्डे वा अतपतिये मे कटे**—'अभिहाल' का पालि में अर्थ 'भेंट' होता है। इसलिए हूल्त्ज ने इसको 'पारितोषिक' अर्थ में लिया है। जायसवाल ने 'अभिहार' को 'युद्ध' अर्थ में लेकर यहाँ 'युद्ध विभाग·व दण्ड (=गृह) विभाग' का उल्लेख माना है (हिन्दूराजतन्त्र, भाग २) इनके विपरीत बरुआ ने 'अभिहाल' का अर्थ 'अभियोग' मानकर इसका तात्पर्य मुकदमों की सुनवाई माना है। 'अतपतिये कटे' पद में विवेक पर निर्भरता की बात कही गई है। एस० एन० मित्र का कहना था कि यहाँ अभियोग व दण्ड को अशोक के विवेक पर निर्भर कहा गया है अर्थात् अशोक ने इन विषयों को रज्जुकों के अधिकार-क्षेत्र से निकाल कर अपने अधिकार में लिया था। परन्तु शेष लगभग सभी विद्वान् यह मानते हैं कि यहाँ इन विषयों को रज्जुकों के विवेक पर छोड़ देने की बात कही गई है। अशोक अपने को प्रजा का का पिता मानता था (सवे मुनिसे पजा ममा – प्रथम व द्वितीय पृ० शि० ले०)। अतः यहाँ उसने रज्जुकों की तुलना एक चतुर धाय से की है जिसको उसने प्रजा की परिचर्या करने के खिए उसी प्रकार नियुक्त किया था। जिस प्रकार माता-पिता बच्चे की परिचर्या के लिए धाय को रखते हैं। उनको उसने अपने अन्तःकरण के अनुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता दी। इससे लगता है कि इसके पूर्व उनको यह स्वतन्त्रता उपलब्ध नहीं थी।

(२) **धर्मयुत**—व्युलर ने इसका अर्थ किया है 'धार्मिक सिद्धान्तों के अनुसार' परन्तु जैसा कि पाण्डेय ने कहा है, 'यह धर्मयुत' विशेषण है जो संज्ञा की तरह प्रयुक्त हुआ है। अतः यहाँ इसका अर्थ होगा 'धर्मयुत लोगों अथवा अधिकारियों द्वारा'।

(३) **वियोहारसमता, दंडसमता**—व्यवहार (अर्थात् न्याय-प्रक्रिया) में समानता और दण्ड में समानता। इसे प्राप्त करने के लिए अशोक ने रज्जुकों को अपने विवेक से काम लेने की छूट दी। हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार यहाँ आशय यह है कि अशोक ने ब्राह्मणों के विशेषाधिकार समाप्त कर दिए जबकि रायचौधुरी के अनुसार अशोक का उद्देश्य न्याय और दण्ड-प्रक्रिया में प्रादेशिक अन्तरों को दूर करना था।

(४) **योते दिंने**—कर्न ने 'योते' को संस्कृत 'यौतकं' माना है। यूरोपीय विद्वान् इसका अर्थ 'छूट' करते हैं। बरुआ का कहना है कि 'यौतकं' शब्द प्राचीन-काल में केवल स्त्रियों को दहेज वा भेंट में प्राप्त स्त्री-धन के अर्थ में प्रयुक्त होता था। वह इसे संस्कृत के 'यौत्रम्' (छूट) का प्राकृत रूप मानते हैं।

(५) **नातिका व कानि निझपयिसंति जीविताये तानं**—'मृच्छकटिक' (अंक १०) में कहा गया है कि चाण्डाल को चाहिए कि मृत्युदण्ड की घोषणा होते ही अपराधी को न मारे क्योंकि हो सकता है कोई दयालु व्यक्ति जीवन-शुल्क देकर अपराधी को छुड़ा ले, शायद राजा के पुत्र उत्पन्न हो जाने या यकायक किसी नए व्यक्ति के राजा बन जाने की खुशी में अपराधियों को छोड़ दिया जाय या किसी पागल हाथी के छूट जाने से उत्पन्न गड़बड़ी में बन्दी अवसर पाकर भाग ही जाए। कौटिल्य (अर्थशास्त्र, शामशास्त्री का संस्करण, पृ० १४६) के अनुसार भी जीवन-शुल्क देने पर पुनर्विचार हो सकता था।

पञ्चम स्तम्भ लेख

(देहली-टोपरा संस्करण)

मूलपाठ

१. देवानंपिये पियदसि लाज हेवं अहा [।] सड़ुवीसतिवस
२. अभिसितेन मे इमानि जातानि अवधियानि कटानि से यथा
३. सुके सालिका अलुने चकवाके हंसे नंदीमुखे गेलाटे
४. जतूका अंबाकपीलिका दली अनठिकमछे वेदवेयके
५. गंगापुपुटके संकुजमछे कफटसयके पंनससे सिमले
६. सडके ओकपिंडे पलसते सेतकपोते गामकपोते
७. सवे चतुपदे ये पटिभोगं नो एति न च खादियती [।] अजकाना [न]
८. एळका चा सूकली चा गभिनी व पायमीना व अवधिय पतके
९. पि च कानि आसंमासिके [।] वधिकुकुटे नो कटविये [।] तुसे सजीवे
१०. नो झापेतविये [।] दावे अनठाये वा विहिसाये वा नो झापेतविये [।]
११. जीवेन जीवे नो पुसितविये [।] तीसु चातुंमासीसु तिसायं पुंनमासियं
१२. तिंनि दिवसानि चावुदसं पंनडसं पटिपदाये धुवाये चा
१३. अनुपोसथं मछे अवधिये नो पि विकेतविये [।] एतानि येवा दिवसानि
१४. नागवनसि केवटभोगसि यानि अंनानि पि जीवनिकायानि
१५. न हंतवियानि [।] अठमीपखाये चावुदसाये पंनडसाये तिसाये
१५. पुनावसुने तीसु चातुंमासीसु सुदिवसाये गोने नो नीलखितविये
१७. अजके एडके सूकले ए वा पि अने नीलखियति नो नीलखितविये [।]
१८. तिसाये पुनावसुने चातुंमासिये चातुंमासिपखाये अस्वसा गोनसा
१९. लखने नो कटविये [।] यावसड़ुवीसतिवसअभिसितेन मे एताये
२०. अंतलिकाये पंनवीसति बंधनमोखानि कटानि [।]

(३) **वियोहारसमता, दंडसमता**—व्यवहार (अर्थात् न्याय-प्रक्रिया) में समानता और दण्ड में समानता। इसे प्राप्त करने के लिए अशोक ने रज्जुकों को अपने विवेक से काम लेने की छूट दी। हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार यहाँ आशय यह है कि अशोक ने ब्राह्मणों के विशेषाधिकार समाप्त कर दिए जबकि रायचौधुरी के अनुसार अशोक का उद्देश्य न्याय और दण्ड-प्रक्रिया में प्रादेशिक अन्तरों को दूर करना था।

(४) **योते दिंने**—कर्न ने 'योते' को संस्कृत 'यौतकं' माना है। यूरोपीय विद्वान् इसका अर्थ 'छूट' करते हैं। बरुआ का कहना है कि 'यौतकं' शब्द प्राचीन-काल में केवल स्त्रियों को दहेज वा भेंट में प्राप्त स्त्री-धन के अर्थ में प्रयुक्त होता था। वह इसे संस्कृत के 'यौत्रम्' (छूट) का प्राकृत रूप मानते हैं।

(५) **नातिका व कानि निझपयिसंति जीविताये तानं**—'मृच्छकटिक' (अंक १०) में कहा गया है कि चाण्डाल को चाहिए कि मृत्युदण्ड की घोषणा होते ही अपराधी को न मारे क्योंकि हो सकता है कोई दयालु व्यक्ति जीवन-शुल्क देकर अपराधी को छुड़ा ले, शायद राजा के पुत्र उत्पन्न हो जाने या यकायक किसी नए व्यक्ति के राजा बन जाने की खुशी में अपराधियों को छोड़ दिया जाय या किसी पागल हाथी के छूट जाने से उत्पन्न गड़बड़ी में बन्दी अवसर पाकर भाग ही जाए। कौटिल्य (अर्थशास्त्र, शामशास्त्री का संस्करण, पृ० १४६) के अनुसार भी जीवन-शुल्क देने पर पुनर्विचार हो सकता था।

पञ्चम स्तम्भ लेख

(देहली-टोपरा संस्करण)

मूलपाठ

१. देवानंपिये पियदसि लाज हेवं अहा [।] सडुवीसतिवस
२. अभिसितेन मे इमानि जातानि अवधियानि कटानि से यथा
३. सुके सालिका अलुने चकवाके हंसे नंदीमुखे गेलाटे
४. जतूका अंबाकपीलिका दली अनठिकमछे वेदवेयके
५. गंगापुपुटके संकुजमछे कफटसयके पंनससे सिमले
६. सडके ओकपिंडे पलसते सेतकपोते गामकपोते
७. सवे चतुपदे ये पटिभोगं नो एति न च खादियती [।] अजकाना नि[न]
८. एळका चा सूकली चा गभिनी व पायमीना व अवधिय पतके
९. पि च कानि आसंमासिके [।] वधिकुकुटे नो कटविये [।] तुसे सजीवे
१०. नो झापेतविये [।] दावे अनठाये वा विहिसाये वा नो झापेतविये [।]
११. जीवेन जीवे नो पुसितविये [।] तीसु चातुंमासीसु तिसायं पुंनमासियं
१२. तिंनि दिवसानि चावुदसं पंनडसं पटिपदाये धुवाये चा
१३. अनुपोसथं मछे अवधिये नो पि विकेतविये [।] एतानि येवा दिवसानि
१४. नागवनसि केवटभोगसि यानि अंनानि पि जीवनिकायानि
१५. न हंतवियानि [।] अठमीपखाये चावुदसाये पंनडसाये तिसाये
१५. पुनावसुने तीसु चातुंमासीसु सुदिवसाये गोने नो नीलखितविये
१७. अजके एडके सूकले ए वा पि अने नीलखियति नो नीलखितविये [।]
१८. तिसाये पुनावसुने चातुंमासिये चातुंमासिपखाये अस्वसा गोनसा
१९. लखने नो कटविये [।] यावसडुवीसतिवसअभिसितेन मे एताये
२०. अंतलिकाये पंनवीसति बंधनमोखानि कटानि [।]

षष्ठ स्तम्भ लेख

(देहली-टोपरा संस्करण)

मूलपाठ

१. देवानंपिये पियदसि लाज हेवं अहा [।] दुवाडस
२. वसअभिसितेन मे धंमलिपि लिखापिता लोकसा
३. हितसुखाये से तं अपहटा तं तं धंमवढि पापोवा [।]
४. हेवं लोकसा हितसुखे ति पटिवेखामि अथ इयं
५. नातसु हेवं पतियासंनेसु हेवं अपकठेसु
६. किमं कानि सुखं अवहामी ति तथ च विदहामि [।] हेमेवा
७. सवनिकायेसु पटिवेखामि [।] सवपासंडा पि मे पूजिता
८. विविधाय पूजाया [।] ए चु इयं अतना पचूपगमने
९. से मे मोख्तमते [।] सडुवीसतिवसअभिसितेन मे
१०. इयं धंमलिपि लिखापिता

सप्तम स्तम्भ लेख

(देहली-टोपरा संस्करण)

मूलपाठ

११. देवानंपिये पियदसि लाजा हेवं आहा [।] ये अतिकंतं
१२. अंतलं लाजाने हुसु हेवं इछिसु कथं जने
१३. धंमवढिया वढेया नो यु जने अनुलुपाया धंमवढिया
१४. वढिथा [।] एतं देवानंपिये पियदसि लाजा हेवं आहा [।] एस मे
१५. हुथा [।] अतिकंतं च अंतलं हेवं इछिसु लाजाने कथं जने
१६. अनुलुपाया धंमवढिया वढेया ति नो च जनं अनुलुपाया
१७. धंमवढिया वढिया [।] से किनसु जने अनुपटिपजेया [।]
१८. किनसु जने अनुलुपाया धंमवढिया वढेया ति [।] किनसु कानि
१९. अभ्युंनामयेहं धंमवढिया ति [।] एतं देवानंपिये पियदसि लाजा हेवं
२०. आहा [।] एस मे हुथा [।] धंमसावनानि सावापयामि धंमानुसथिनि
२१. अनुसासामि [।] एतं जने सुतु अनुपटीपजीसति अभ्युंनमिसति
२२. धंमवढिया च बाढं वढिसति [।] एताये मे अठाये धंमसावनानि सावापितानि धंमानुसथिनि विविधानि आनपितानि य [था पुलि] सा पि बहुने जनसि आयता ए ते पलियोवदिसंति पि पविथलिसंति पि [।] लजूका पि बहुकेसु पानसतसहसेसु आयता ते पि मे आनपिता हेवं च हेवं च पलियोवदाथ
२३. जनं धंमयुतं [।] देवानंपिये पियदसि हेवं आहा [।] एतमेव मे अनुवेखमाने धंमथंभानि कटानि धंममहामाता कटा धंम [साव ने] कटे [।] देवानंपिये पियदसि लाजा हेवं आहा [।] मगेसु पि मे निगोहानि लोपापितानि छायोपगानि होसंति पसुमुनिसानं अंबावडिक्या लोपापिता [।] अढकोसिक्यानि पि मे उदुपानानि
२४. खानापितानि निंसिढया च कालापिता [।] आपानानि मे बहुकानि तत तत कालापितानि पटीभोगाये पसुमुनिसानं [।] ल [हुके चु] एस पटीभोगे नाम [।] विविधाया हि सुखायनाया पुलिमेहि पि लाजीहि ममया च सुखयिते लोके [।] इमं चु धंमानुपटीपति अनुपटीपजंतु ति एतदथा मे
२५. एस कटे [।] देवानंपिये पियदसि हेवं आहा [।] धंममहामाता पि मे ते बहुविधेसु अठेसु आनुगहिकेसु वियापटासे पवजीतानं चेव गिहिथानं च

सव [पासं] डेसु पि च वियापटासे [।] संघठसि पि मे कटे इमे वियापटा होहंति ति हेमेव बाभनेसु आजीविकेसु पि मे कटे

२६. इमे वियापटा होहंति ति निगंठेसु पि मे कटे इमे वियापटा होहंति नानापासंडेसु पि मे कटे इमे वियापटा होहंति ति पटिविसिठं तेसु तेसु ते [ते महा] माता [।] धंममहामाता चु मे एतेसु चेव वियापटा सवेसु च अंनेसु पासंडेसु [।] देवानंपिये पियदसि लाजा हेवं आहा [।]

२७. एते च अंने च बहुका मुखा दानविसगसि वियापटासे मम चेव देविनं च सवसि च मे ओलोधनसि ते बहुविधेन आकालेन तानि तानि तुठायतनानि पटी [वेदयंति] हिद चेव दिसासु च [।] दालकानं पि च मे कटे अंनानं च देविकुमालानं इमे दानविसगेसु वियापटा होहंति ति

२८. धंमापदानठाये धंमानुपटिपतिये [।] एस हि धंमापदाने धंमपटीपति च या इयं दया दाने सचे सोचवे मदवे साधवे च लोकस हेवं वढिसति ति [।] देवानंपिये प [ि] प [यद ि] स लाजा हेवं आहा [।] यानि हि कानिचि ममिया साधवानि कटानि तं लोके अनूपटीपंने तं च अनुविधियंति [।] तेन वढिता च

२९. वढिसंति च मातापितिसु सुसुसाया गलुसु सुसुसाया वयोमहालकानं अनुपटीपतिया बाभनसमनेसु कपनवलाकेसु आव दासभटकेसु संपटीपतिया [।] देवानंपिय [पि] यदसि लाजा हेवं आहा [।] मुनिसानं चु या इयं धंमवढि वढिता दुवेहि येव आकालेहि धंमनियमेन च निझतिया च [।]

३०. तत चु लहु से धंमनियमे निझतिया व भुये [।] धंमनियमे चु खो एस ये मे इयं कटे इमानि च इमानि जातानि अवधियानि [।] अंनानि पि चु बहुक [ा नि] धंमनियमानि यानि मे कटानि [।] निझतिया व चु भुये मुनिसानं धंमवढि वढिता अविहिंसाये भुतानं

३१. अनालंभाये पानानं [।] से एताये अथाये इयं कटे पुतापपोतिके चंदम-सुलियिके होतु ति तथा च अनुपटीपजंतु ति [।] हेवं हि अनुपटीपजंतं हिदतपालते आलधे होति [।] सतविसति वसाभिसिते न मे इयं धंमलिबि लिखापापिता ति [।] एतं देवानंपिये आहा [।] इयं

३२. धंमलिवि अत अथि सिलाथंभानि वा सिलाफलकानि वा तत कटविया एन एस चिलठितिके सिया [॥]

लघु स्तम्भ (संघभेद) लेख

(साँची संस्करण)

मूलपाठ

१. ....
२. ····या भेत····[। [सं] घे [स] मगे कटे
३. भिखूनं च भिखुनीनं चा ति पुतप
४. पोतिके चेदमसूरियिके [।] ये संघं
५. भाखति भिखु वा भिखुनि वा ओदाता
६. नि दुसानि सनंधापयितु अनावा
७. ससि वासापेतविये [।] इच्छा हि मे किं
८. ति संघे समगे चिलथितीके सिया ति [।]

पाठ-टिप्पणी—इस लेख की प्रथम पंक्ति में, जो मिट गई है, संभवत: "देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा आज्ञा करते हैं—साञ्ची प्रदेश में जो महामात्र हैं उनके प्रति—"ऐसा करना चाहिए जिससे किसी के द्वारा संघ····" जैसे अर्थवाले शब्द रहे होंगे। दे०, सारनाथ संघ भेद-लेख की तीसरी पंक्ति। दूसरी पंक्ति के प्रथम अक्षर को ब्युलर ने 'यं' पढ़ा है। उसके बाद का पूरा शब्द शायद 'भेतवे' रहा होगा। तीसरी पंक्ति के 'च' और 'चा' को ब्युलर ने 'वा' पढ़ा है, पांचवीं पंक्ति में ब्युलर और वॉयर ने 'भाखति' के स्थान पर 'भोखति' और अन्तिम पंक्ति में 'संघे समगे' को 'संघस भगे'।

शब्दार्थ

समगे कटे=समग्र अर्थात् संघटित किया गया ; **चंदनमसूरियिके**=जब तक चन्द्र सूर्य रहेंगे ; **भाखति**=भंग करता है ; **ओदातानि**=श्वेत ; **दुसानि**=वस्त्र ; **सनंधापयितु**=सन्निधाप्य, पहिनाकर ; **अनावससि**=अयोग्य आवास में ; **वासापेतविये**=वसाना चाहिए।

अनुवाद

....भंग नहीं किया जा सकता। संघ संघटित किया गया भिक्षुओं और भिक्षुणियों का (तब तक के लिए) जब तक (मेरे) पुत्र-पौत्र (राज्य करेंगे) (और) चन्द्र सूर्य (स्थित रहेंगे)। जो संघ भंग करता है (चाहे वह) भिक्षु (हो) या भिक्षुणी, (उसे) श्वेत वस्त्र पहिनाकर (भिक्षुओं के लिए) अयोग्य स्थान पर बसा देना चाहिए। मेरी इच्छा है—क्या ?—संघ संघटित (और) चिरस्थायी हो।

व्याख्या

(१) **संघे समगे कटे**='संघ समग्र कर दिया गया'। इसका अर्थ है कि इसके पूर्व संघ संघटित नहीं था। 'सुत्त विभंग' के अनुसार 'समग्र संघ' का मतलब था "एक आवास में एक सीमा के भीतर रहने वाले भिक्षुओं का समूह।" संघ को संयुक्त तब माना जाता था जब सब सदस्य अट्ठारह बातों (अट्ठारसहि वत्थूहि) पर एकमत रहते थे, जैसे धम क्या है, धंम क्या नहीं है, विनय क्या है, विनय क्या नहीं है, अपराध क्या है, अपराध क्या नहीं है आदि ('महावग्ग' १० ; 'चुल्लवग्ग' ७)। एकता की कसौटी किसी संघ की 'उपोस्था' होती थी। 'विनय' में बताया गया है कि किस प्रकार के अपराध से संघ में किस प्रकार का भेद होता था—भण्डनम्, कलह, विग्गह, विवाद, संघभेद, संघराजि, संघवत्थानम्, संघनानाकरणम् (विस्तार के लिए दे०, मुकर्जी, अशोक, पृ० १९६ अ०)। अशोक दावा करता है कि उसने संघ भेद को सदैव के लिए समाप्त कर दिया था। वह दावा स्पष्टतः अतिरञ्जित है। 'दीपवंस', 'महावंस' तथा 'समन्तपासादिका' में अशोक के संघभेद को दूर करने के प्रयास का उल्लेख मिलता है। कहा गया है कि अशोकाराम में सात वर्ष तक उपोस्था नहीं हुई क्योंकि श्रद्धावान् भिक्षु संघ में फूट डालने वालों के साथ इसमें सम्मिलित होने के लिए तैयार नहीं थे। संघ में फूट डालने वाले भिक्षु वास्तव में सद्धर्म में श्रद्धा नहीं रखते थे ; वे लोभ के कारण भिक्षु बन गये थे। परिणामतः संघ में अशोभनीय व्यवहार व दलबन्दी का बोलबाला हो गया था। अशोक ने इस पर एक उच्चपदाधिकारी को मतभेद समाप्त करके सब भिक्षुओं को उपोसथा में सम्मिलित करने का आदेश दिया। उस अधिकारी ने अशोक के आदेश को गलत समझा और उसने उपोसथा में सम्मिलित न होने वाले भिक्षुओं का वध कराना प्रारम्भ कर दिया। इसकी सूचना मिलने पर अशोक ने मोग्गलिपुत्त तिस्स को भेजा। उसने उन सब भिक्षुओं जो विभाज्यवाद में विश्वास करते थे श्वेत

वस्त्र पहिनाकर संघ से निकाल दिया (सेतकानि वत्थानि दत्वा उपपव्वजिसि) और इस तरह संघ एकता स्थापित की। इसी समागम में तिस्स ने 'कथावत्थु' की रचना की। इस कथा का समर्थन प्रस्तुत संघभेद अभिलेख से होता है। परोक्षतः इससे भिक्षुओं के समागम आयोजित किये जाने का समर्थन भी होता है। भाण्डारकर के अनुसार 'संघ को संघटित कर दिया गया है' वाक्य से प्रमाणित होता है कि अशोक के पूर्व अनेक सम्प्रदाय अस्तित्व में आ चुके थे, लेकिन शायद उनमें मतभेद उतना ज्यादा नहीं था जितना सिंहली परम्परा में बताया गया है। दूसरे, यह भी ध्यान देने की बात है कि अशोक के अभिलेख में प्रयुक्त 'संघ' शब्द सापेक्ष है; इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि वह एक ही सम्प्रदाय के संघ की बात कह रहा है। शायद अशोक का मन्तव्य मात्र इतना ही था कि किसी एक विहार में एक ही बौद्ध सम्प्रदाय के अनुयायी रहें जिससे उनमें मतभेद के कारण कलह न हो। किसी भिक्षु को मात्र इसलिए दण्डित करना क्योंकि वह अन्य भिक्षुओं से मतभेद रखता था, स्वयं अशोक की सहिष्णुता व समवाय नीति के विरुद्ध होता। परन्तु बौद्ध साहित्य निश्चय ही उसे थेरवादी सम्प्रदाय से सम्बन्धित बताता है। अन्य बौद्ध सम्प्रदाय उसकी विशेष चर्चा तक नहीं करते (बरुआ, इन्स्क्रिप्शन्स् ऑव अशोक, भाग २, पृ० ३८०)।

(२) **ये संघं भाखति भिखु वा भिखुनिवा**—यहाँ 'संघ' का अर्थ सम्पूर्ण बौद्ध संघ नहीं, किसी प्रदेश का बौद्ध विहार मानना चाहिए। अशोक के इस कथन से ऐसा लगता है कि कोई भी भिक्षु या भिक्षुणी संघभेद कर सकता था। परन्तु 'चुल्लवग्ग' ७. ५. में कहा गया है कि संघभेद केवल भिक्षु कर सकता है, भिक्षुणी, उपासक, उपासिकाएँ अथवा शिष्य गण संघ भेद का प्रयास मात्र कर सकते हैं। 'महावग्ग' ३.११.५ में भिक्षुणियों के द्वारा संघभेद की सम्भावना मानी गई है। 'पातिमोक्ख' में संघभेद की प्रक्रिया में इस प्रकार बताई गयी हैं : समागम (असेम्बली) में संघ में फूट डालने के लिए (संघस्स भेदाय) प्रयास करना ; फूट डालने वाले विषयों को बार-बार उठाना ; दोषी भिक्षुओं के दोष को उनका अपना पक्षधर मानकर ढकने की कोशिश करना।

(३) **ओदतानि दुसानि सनंधापयितु**='श्वेत वस्त्र पहिनाकर'। अर्थात् काषाय वस्त्र उतरवाकर। पालि ग्रन्थों में श्वेत वस्त्रों को गृहस्थों और तित्थियों अर्थात् बौद्धेतर सम्प्रदायों के साधुओं का चिह्न बताया गया है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि श्वेत वस्त्र पहिनाने से उन भिक्षुओं का गृहस्थ होना जरूरी नहीं था, वे अन्य सम्प्रदायों के साधुओं के रूप में भी लौट सकते थे। पालि ग्रन्थों में प्रदत्त उपर्युक्त कथा में (टि० २) 'उपपव्वाजेसि' का अर्थ यह माना गया है कि अशोक ने अशोकाराम के श्रद्धाहीन भिक्षुओं को अपने-अपने पुराने सम्प्रदायों के संघों में लौटने के लिए बाध्य किया था। यहाँ यह स्मरणीय है कि संघभेद के अपराधी को उसके अपराध की गरिमा के अनुसार दण्ड मिलता था। 'नासनं' या संघ से पूर्णतः निष्कासन

कठोरतम दण्ड था। किसी सामान्य अपराध का प्रायश्चित न करने या मिथ्यावाद को न छोड़ने पर संघ से निलम्बन (उक्खेपनं) का दण्ड मिलता था तथा प्रायश्चित योग्य असद् व्यवहार के लिए लघुकाल के लिए निष्कासन (पब्बजानं) का दण्ड दिया जाता था।

(४) संघभेद को रोकने के लिए अशोक द्वारा जारी किया गया आदेश बौद्ध संघ के इतिहास में अनूठा था। इस प्रकार का आदेश किसी और सम्प्रदाय के संघ के लिए जारी नहीं किया गया। अशोक ने अपने को बौद्ध संघ का अध्यक्ष तो नहीं बनाया परन्तु अपने को धर्म के रक्षक के रूप में अवश्य ही प्रस्तुत किया। हिन्दू धर्म में भी माना गया है कि कुल, जाति, जनपद अथवा संघ के नियमों की अवहेलना करने वालों को राजदण्ड दिया जा सकता था।

(५) **अनावाससि आवासयिये**—'समन्तपासदिका' में बुद्धघोष ने ऐसे स्थान को 'अभिक्खो आवासो' लिखा है। इसमें उन्होंने चेतियघर (समाधिस्थल), बोधि-घर, समन्जनी अट्टक (स्नान घर) दारूअट्टक, पानीय माल, वचोकुटी (मलमूत्र त्यागने का स्थान) और द्वार कोट्ठक गिनाये हैं। लेकिन श्वेत वस्त्र पहिनाकर निकाले गये भिक्षुओं को इन स्थान पर वास करने के लिए नहीं कहा जा सकता था।

(६) **चंद सुरियिके**—यहाँ इस पद का 'हमेशा के लिए' अर्थ में प्रयोग हुआ है। तु० परवर्ती लेखों का 'आचन्द्रार्क'।

(७) यह आदेश अशोक ने साँची के समीपस्थ काकनादवोट महाविहार के भिक्षुओं को चेतावनी देने के लिए लिखवाया होगा।

लघु स्तम्भ (संघभेद) लेख

(सारनाथ संस्करण)

मूलपाठ

१. देवा [नां पिये]............
२. ए ल................
३. पाट [लि पु त] [न स कि] ये केनपि संघे भेतवे [।] ऐ चुं खो
४. भिखू वा भिखुनि वा संघं भाखति से ओदातानि दुसानि संनंधापयि या आनावाससि [।]
५. आवासयियेे [।] हेवं इयं सासने भिखुसंघसि च भिखुनिसंघसि च विनपयितविये [।]
६. हेवं देवानंपिये आहा [।] हेदिसा च इका लिपी तुफाकंतिकं हुवाति संसलनसि निखिता
७. इकं च लिपिं हेदिसमेव उपासकानंतिकं निखिपाथ [।] ते पि च उपासका अनुपोसथं यावु
८. एतमेव सासनं विस्वंसयितवे अनुपोसथं च धुवाये इकिके महामति पोसथाये
९. याति एतमेव सासनं विस्वंसयितवे आजानितवे च [।] आवते च तुफाकं आहाले
१०. सवत विवासयाथ तुफे एतेन वियंजनेन [।] हेमेव सवेसु कोटविषवेसु एतेन
११. वियंजनेन विवासापयाथा [॥]

पाठ-टिप्पणी—प्रथम पंक्ति का पूर्ण पाठ हो सकता है 'देवानंपिये पियदसि लाजा आनपयति' रहा हो (कौशाम्बी संघभेद लेख के आधार पर) । दूसरी पंक्ति करीब-करीब पूरी तरह मिट गई है । परन्तु इसमें अगर कुछ ऐसी भाषा रही होगी जैसी कौशाम्बी संघभेद स्तम्भ-लेख में है तो कहा गया होगा : "जो पाटलिपुत्र में महामात्र हैं उनके प्रति—मेरे द्वारा संघ संघटित किया गया ।" तीसरी पंक्ति के प्रारंभ में 'पाटलिपुतं' पाठ रहा होगा । बॉयर ने इसके बाद 'न स कि' अक्षर पुनर्योजित करने का सुझाव रखा है जो सरकार को मान्य है । चौथी पंक्ति में 'संघ' के उपरान्त वेनिस ने 'भाखति' पढ़ा है, सेना तथा फोगल ने 'भिखति' तथा बायर ने 'भोखति' ।

शब्दार्थ

न सकिये=शक्य न हो ; **केनपि**=किसी के द्वारा भी ; **भेतवे**=भेदन ; **ए चुं खो**= जो भी कोई ; **भाखति**=भेदन करता है ; **ओदातानि दुसानि**=श्वेत वस्त्र ; **संनंधापयिया**=पहिनाकर ; **आनावससि**=अनावास, वह स्थान जो रहने योग्य न हो ; **आवासयिये**=रखा जाएगा ; **सासन**=शासन, आज्ञा ; **विनपयितवियै**=विज्ञप्त होनी चाहिए ; **हेदिसा**=इस प्रकार की ; **तुफाकंतिकं हुवाति**=आप लोगों के पास होवें ; **संसलनसि**=आवास में (चौपाल में या कचहरी में) ; **निखिता**=सुरक्षित होनी चाहिए ; **हेदिसमेव**=इसी प्रकार की ; **अनुपोसथं**=उपवास के दिन ; **यावु**=आवें ; **विस्वंसयितवे**= विश्वास उत्पन्न करने के लिए ; **तुफाकं**=आपका ; **आहाले**=आहार, कार्यक्षेत्र ; **ऐतेन वियंजनने**=इस आज्ञा के व्यञ्जनानुसार, अर्थात् इसका अक्षरशः पालन करते हुए ; **कोटविषवेसु**=कोट्ट और प्रान्तों में ।

अनुवाद

देवा [नांप्रिय प्रियदर्शी राजा आज्ञा करते हैं—] [जो पाटलिपुत्र में महामात्र हैं उनके लिए—"मेरे द्वारा संघ संघटित किया गया ।] पाट [लिपुत्र में ऐसा करना चाहिए जिससे] किसी के द्वारा संघ का भेदन शक्य न हो । जो भी कोई भिक्षु अथवा भिक्षुणी संघ भंग करेगा, वह श्वेत वस्त्र पहिनाकर अयोग्य स्थान में (अर्थात् भिक्षुओं के लिए निषिद्ध स्थान में) रखा जाएगा (अर्थात् संघ से निकाल दिया जाएगा) । इस प्रकार यह आज्ञा भिक्षु-संघ और भिक्षुणी-संघ में विज्ञप्त होनी चाहिए । इस प्रकार देवानांप्रिय ने कहा, इसी प्रकार की एक लिपि (=प्रतिलिपि) आप लोगों के पास चौपाल (कचहरी ?) में सुरक्षित रखी होनी चाहिए । और इसी प्रकार की एक लिपि (=प्रतिलिपि) आप उपासकों (गृहस्थों) के पास सुरक्षित रखें । ये उपासक प्रत्येक उपोसथ दिवस को इस आज्ञा में विश्वास प्राप्त करने के लिए आवें । और उपोसथ के दिन निश्चित रूप से एक-एक महामात्र (अर्थात् प्रत्येक महामात्र बारी-बारी से) पोसथा के लिए इस आज्ञा में विश्वास प्राप्त करने के लिए और अच्छी तरह समझने के हेतु आवेगा । और जहाँ तक आपका आहार (कार्यक्षेत्र) है आप इस आज्ञा का अक्षरशः पालन करते हुए (इस आदेश की प्रतिलिपियों को) सर्वत्र भेजिए । इसी प्रकार सभी कोट्टों (और) प्रान्तों में इस आज्ञा का अक्षरशः पालन करते हुए (प्रतिलिपियों को) भेजिए ।

व्याख्या

(१) **पाटलिपुत्र**—आधुनिक पटना, मगध की राजधानी । इस लेख की तीसरी पंक्ति में आए 'पाट·····' अक्षरों के कारण हमने इसका अनुवाद यह मान कर किया है कि कौशाम्बी संघ-लेख की तरह इस लेख की दूसरी पंक्ति में, जो खण्डित हो गई है, पाटलिपुत्र के महामात्रों को सम्बोधित किया गया था । उस अवस्था में मानना होगा कि सारनाथ विहार मागध संघ के अन्तर्गत था । लेकिन इस लेख में भी अगर

कौशाम्बी के महामात्रों को ही सम्बोधित किया गया था तव हो सकता है कि इसके खण्डित अंश में पाटलिपुत्र में आयोजित तृतीय बौद्ध संगीति का उल्लेख रहा हो। सरकार का विचार है कि कौशाम्बी, साञ्ची व सारनाथ से उपलव्ध संघभेद-अभिलेख पाटलिपुत्र की संगीति के उपरान्त ही लिखवाए गये होंगे।

(२) कौशाम्बी व साँची संघभेद लेख के समान यह अभिलेख भी प्रधानतः महामात्रों के लिए था। लेकिन अशोक इसे भिक्षु, भिक्षुणिओं तथा उपासकों को भी पढ़वाए जाने का आदेश देता है।

(३) **संसलन**=संस्कृत संसरण। पाण्डेय ने इसका अर्थ आने जाने या एकत्र होने का स्थान अर्थात् 'चौपाल' किया है, हूल्ज़ ने 'आफिस', भाण्डारकर ने 'कचहरी' तथा कुछ अन्य विद्वानों ने इसे सभाभवन, कोई अन्य आवास अथवा कोई पदनाम माना है। कुछ ने इसे 'स्मृति' अर्थ में भी लिया है। संस्कृत में 'संसरण' का अर्थ 'घण्टापथ' 'राजपथ' या 'पथ-संगम' होता है अथवा 'पुर (नगर) के समीप स्थित भूमि' (अमरकोश)। 'विनय पिटक' (चुल्लवग्ग) में 'संसरण' शव्द का प्रयोग 'गतिशील' अर्थ में हुआ है और वुद्धघोष ने इसे 'जनपथ' अर्थ में प्रयुक्त किया है।

(४) **पोसथा**, **उपोसथ**—सामान्यतः पोसथ और उपोसथ में कोई अन्तर नहीं होता था। बौद्ध व जैन धर्मों में इनका प्रयोग प्रायः शुक्ल पक्ष की अष्टमी के लिए होता था जब दोपहर बाद व्रत रखा जाता था। वैदिक धर्म में उपवसथ वैदिक यज्ञ दर्श और पूर्णमास का दिन माना जाता था जो व्रत और उपवास के लिए निश्चित था। 'शतपथ' के अनुसार यजमान यह विश्वास करता था कि उस दिन देवता उसके पास वसते थे (उप+वस) और वह अपनी पत्नी के साथ देवता (=अग्नि) के पास रहता था। वैदिक परम्परा में भी पक्ष का आठवाँ दिन उपवास व कथा-वार्ता का होता था। प्रस्तुत अभिलेख में 'पोसथ' और 'उपोसथ' के अर्थ में जरा-सा अन्तर है। यहाँ 'पोसथ' का प्रयोग पक्ष के आठवें दिन उपासकों के संघ में आने पर होने वाली धर्मचर्चा आदि के लिए किया गया है और 'उपोसथ' का भिक्षु और भिक्षुणियों द्वारा उस दिन पतिमोक्ख नियमों के दोहराने के लिए।

(५) **कोटविषवेसु**—भाण्डारकर व मुकर्जी : 'प्राचीरों से सुरक्षित नगरों में'। वरुआ : 'प्राचीरों से सुरक्षित प्रदेशों में'। 'कोटविषय' स्पष्टतः आहार के अन्तर्गत वताए गए हैं, अतः यहाँ इनसे तात्पर्य कोट्टों (अर्थात् दुर्गों) और विषयों (=जिले जैसी प्रादेशिक इकाई) हो सकता है।

लघु स्तम्भ (संघ भेद) लेख

(प्रयाग संस्करण)

मूलपाठ

१. [देवानं] [पि] ये आनपयति [।] कोसंबियं महाम [।] त
२. [संघे] [स] म [गे] [कटे] [।] स [ं] घसि नो लहिये
३. ………… [संघं] [भा] खति भि [खु] व [ा] भि [खु] नि वा [से] [पि] चा
४. [ओ] दात [ा] नि दुसानि [स] नंघापयितु अ [नावा] स [सि] [आ] व [ा] सयि [ये] [॥]

रुम्मिनदेई लघु स्तम्भ-लेख

मूलपाठ

१. देवानपियेन पियदसिन लाजिन वीसतिवसाभिसितेन
२. अतन आगाच्च महीयिते हिद बुधे जाते सक्यमुनी ति [।]
३. सिळा-विगडभी-चा कालापित सिलाथभे च उसपापिते
४. हिद भगवं जाते ति [।] लुंमिनिगामे उबलिके कटे
५. अठभागिये च [।]

लघु स्तम्भ (संघ भेद) लेख

(प्रयाग संस्करण)

मूलपाठ

१. [देवानं] [पि] ये आनपयति [।] कोसंबियं महाम [।] त
२. [संघे] [स] म [गे] [कटे] [।] स [ं] घसि नो लहिये
३. ....[संघं] [भा] खति भि [खु] व [ा] भि [खु] नि वा [से] [पि] चा
४. [ओ] दात [ा] नि दुसानि [स] नंधापयितु अ [नावा] स [सि] [आ] व [ा] सयि [ये] [॥]

रुम्मिनदेई लघु स्तम्भ-लेख

मूलपाठ

१. देवानपियेन पियदसिन लाजिन वीसतिवसाभिसितेन
२. अतन आगाच महीयिते हिद बुधे जाते सक्यमुनी ति [।]
३. सिळा-विगडभी-चा कालापित सिलाथभे च उसपापिते
४. हिद भगवं जाते ति [।] लुंमिनिगामे उबलिके कटे
५. अठभागिये च [।]

शब्दार्थ

अतन आगाच=स्वयं आकर ; **महीयते**=गौरवान्वित किया ; **जाते**=पैदा हुए थे ; **सिला विगडभी चा**=शिला विकट भित्तिका, पत्थर की दृढ़ दीवार ; **कालापित**= बनवाई गई ; **उसपापित**=खड़ा किया किया ; **उबलिके**=उद्‌वलिक:, वलि रहित ।

अनुवाद

बीस वर्षों से अभिषिक्त देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा द्वारा स्वयं आकर (इस स्थल को) गौरवान्वित किया गया क्योंकि यहाँ शाक्य मुनि उत्पन्न हुए थे। पत्थर की दृढ़ दीवार बनवाई गई और पाषाण स्तम्भ स्थापित किया गया, क्योंकि यहाँ भगवान् उत्पन्न हुए थे। लुम्बिनी ग्राम वलि (नामक कर से) मुक्त किया गया और अष्टभागी बना दिया गया।

व्याख्या

(१) **बुधे जाते सक्यमुनि ति**—'महापरिनिब्बानसुत्त' में 'इध तथागतो जातो ति' वाक्यांश आता है। लगता है उसी का रूपान्तर यहाँ दिया गया है। रुम्मिनदेई-स्तम्भ से कुछ दूर एक मन्दिर स्थित है जिसमें बनी एक प्राचीन मूर्ति में बुद्ध के जन्म का दृश्य अंकित है। पास के गाँव वाले इस मूर्ति को 'रूपमदेही' देवी की मूर्ति कहते हैं। उसी के नाम पर यह गाँव भी 'रुपमृदेही' कहा जाता है जिसका विकृत रूप 'रुम्मिनदेई' हो गया है।

(२) हूल्त्ज़ और शार्पेण्टियर ने 'सिला विगड भी' का अर्थ किया है 'विगड (=अश्व) धारण करती हुई शिला', ब्युलर ने 'सूर्य चिह्न से अंकित शिला' और बरुआ ने 'युवा हाथी की शीर्ष मूर्ति'। लेकिन ये सभी अर्थ अनुमानाश्रित हैं। वासुदेव-शरण अग्रवाल ने इसका अर्थ माना है 'शिला विकट भित्तिका' अर्थात् पत्थर की दृढ़ दीवार। दे० घोसूण्डी-अभिलेख। हमें यही अर्थ सही लगता है। इस लेख में उल्लिखित स्तम्भ वही होगा जिस पर लेख उत्कीर्ण हैं। शुआन-च्वांग ने लुम्बिनी के अश्व शीर्ष वाले स्तम्भ की चर्चा की है।

(३) **भगवं**=भगवान्। वौद्ध धर्म में ईस्सरीय, धम्म, यस, सिरी, काम तथा पयतन (ईश्वरत्व, धर्म, यश, काम, प्रयत्न) धारण करने वाले को 'भगवान्' माना गया है।

(४) **उबलिके**=उद्‌बलिक: = बलि नामक कर से मुक्त। अशोक ने अपनी यात्रा के उपलक्ष में लुम्बिनी गाँव को वलिमुक्त कर दिया था। बलि नामक कर के लिए दे०, प्रथम रुद्रदामा के जूनागढ़-अभिलेख में 'बलि' के ऊपर टि०।

(५) **अठभागिये**=अष्टभागी=आठवें भाग वाला। प्राचीन काल में राज्य किसानों से उपज का षष्ठांश कर रूप में लेते थे (घोषाल, हिन्दू, रिवेन्यु सिस्टम, पृ० ५८)। यह 'भाग' नामका कर कहलाता था। इसी के कारण राजा 'षड्भागी'

कहे जाते थे। लेकिन यह निश्चित नियम नहीं सिद्धान्त मात्र था। 'अर्थशास्त्र' में भाग को उपज का १/४ या १/५ बताया गया है। मेगास्थने (मेगस्थनिज़) के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य के युग में भूमिकर उपज का १/४ होता था। दे०, प्रथम रुद्रदामा के शिलालेख में 'भाग' के ऊपर टिप्पणी। अशोक ने अपनी यात्रा के उपलक्ष में रुम्मिनदेई ग्राम का भाग नामक कर १/८ कर दिया था। मनु ने भाग की मात्रा उपज की १/८ ही बताई है। पुरातन इतिहासकार 'अठभागिये' का अर्थ भिन्न प्रकार से करते थे। ब्यूलर ने इसका अर्थ किया था 'अर्थभागी'='राजा के महान् दान का भागी'। यह अर्थ 'दिव्यावदान' के इस कथन पर निर्भर था कि अशोक ने लुम्बिनी वन पर १ लाख सुवर्ण मुद्राएँ खर्च की थीं। पिशेल के अनुसार 'अष्ट-भाग' का अर्थ है 'आठ क्षेत्र वाला'='वह जिसके व्यय के लिए आठ क्षेत्रों की आय अनुमानित थी।' परन्तु ये अर्थ सही नहीं लगते।

(६) कुछ लोगों का दावा है रुम्मिनदेई-स्तम्भ लेख की एक प्रति एक पाषाण फलक पर उड़ीसा से भी मिली है। लेकिन जैसा कि सरकार ने ध्यान दिलाया है, यह लेख प्रकृत्या ऐसा है कि इसकी प्रति कहीं अन्यत्र मिलने का कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता (दे०, सरकार, इण्डियन एपिग्राफी, पृ० ४३६–७)।

शब्दार्थ

अतन आगाच=स्वयं आकर; **महीयते**=गौरवान्वित किया; **जाते**=पैदा हुए थे; **सिला विगडभी चा**=शिला विकट भित्तिका, पत्थर की दृढ़ दीवार; **कालापित**= बनवाई गई; **उसपापित**=खड़ा किया किया; **उबलिके**=उद्‌वलिक:, वलि रहित।

अनुवाद

बीस वर्षों से अभिषिक्त देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा द्वारा स्वयं आकर (इस स्थल को) गौरवान्वित किया गया क्योंकि यहाँ शाक्य मुनि उत्पन्न हुए थे। पत्थर की दृढ़ दीवार बनवाई गई और पाषाण स्तम्भ स्थापित किया गया, क्योंकि यहाँ भगवान् उत्पन्न हुए थे। लुम्बिनी ग्राम वलि (नामक कर से) मुक्त किया गया और अष्टभागी बना दिया गया।

व्याख्या

(१) **बुधे जाते सक्यमुनि ति**—'महापरिनिब्बानसुत्त' में 'इध तथागतो जातो ति' वाक्यांश आता है। लगता है उसी का रूपान्तर यहाँ दिया गया है। रुम्मिनदेई-स्तम्भ से कुछ दूर एक मन्दिर स्थित है जिसमें बनी एक प्राचीन मूर्ति में बुद्ध के जन्म का दृश्य अंकित है। पास के गाँव वाले इस मूर्ति को 'रूपमदेही' देवी की मूर्ति कहते हैं। उसी के नाम पर यह गाँव भी 'रुपम्देही' कहा जाता है जिसका विकृत रूप 'रुम्मिनदेई' हो गया है।

(२) हूल्त्ज़ और शार्पेण्टियर ने 'सिला विगड भी' का अर्थ किया है 'विगड (=अश्व) धारण करती हुई शिला', ब्युलर ने 'सूर्य चिह्न से अंकित शिला' और बरुआ ने 'युवा हाथी की शीर्ष मूर्ति'। लेकिन ये सभी अर्थ अनुमानाश्रित हैं। वासुदेव-शरण अग्रवाल ने इसका अर्थ माना है 'शिला विकट भित्तिका' अर्थात् पत्थर की दृढ़ दीवार। दे० घोसूण्डी-अभिलेख। हमें यही अर्थ सही लगता है। इस लेख में उल्लिखित स्तम्भ वही होगा जिस पर लेख उत्कीर्ण हैं। शुआन-च्वांग ने लुम्बिनी के अश्व शीर्ष वाले स्तम्भ की चर्चा की है।

(३) **भगवं**=भगवान्। बौद्ध धर्म में ईस्सरीय, धम्म, यस, सिरी, काम तथा पयतन (ईश्वरत्व, धर्म, यश, काम, प्रयत्न) धारण करने वाले को 'भगवान्' माना गया है।

(४) **उबलिके**=उद्‌वलिक: = बलि नामक कर से मुक्त। अशोक ने अपनी यात्रा के उपलक्ष में लुम्बिनी गाँव को बलिमुक्त कर दिया था। बलि नामक कर के लिए दे०, प्रथम रुद्रदामा के जूनागढ़-अभिलेख में 'बलि' के ऊपर टि०।

(५) **अठभागिये**=अष्टभागी=आठवें भाग वाला। प्राचीन काल में राज्य किसानों से उपज का षष्ठांश कर रूप में लेते थे (घोषाल, हिन्दू, रिवेन्यु सिस्टम, पृ० ५८)। यह 'भाग' नामका कर कहलाता था। इसी के कारण राजा 'षड्भागी'

कहे जाते थे। लेकिन यह निश्चित नियम नहीं सिद्धान्त मात्र था। 'अर्थशास्त्र' में भाग को उपज का १/४ या १/५ बताया गया है। मेगास्थने (मेगस्थनिज़) के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य के युग में भूमिकर उपज का १/४ होता था। दे०, प्रथम रुद्रदामा के शिलालेख में 'भाग' के ऊपर टिप्पणी। अशोक ने अपनी यात्रा के उपलक्ष में रुम्मिनदेई ग्राम का भाग नामक कर १/८ कर दिया था। मनु ने भाग की मात्रा उपज की १/८ ही बताई है। पुरातन इतिहासकार 'अठभागिये' का अर्थ भिन्न प्रकार से करते थे। ब्यूलर ने इसका अर्थ किया था 'अर्थभागी'='राजा के महान् दान का भागी'। यह अर्थ 'दिव्यावदान' के इस कथन पर निर्भर था कि अशोक ने लुम्बिनी वन पर १ लाख सुवर्ण मुद्राएँ खर्च की थीं। पिशेल के अनुसार 'अष्ट-भाग' का अर्थ है 'आठ क्षेत्र वाला'='वह जिसके व्यय के लिए आठ क्षेत्रों की आय अनुमानित थी।' परन्तु ये अर्थ सही नहीं लगते।

(६) कुछ लोगों का दावा है रुम्मिनदेई-स्तम्भ लेख की एक प्रति एक पाषाण फलक पर उड़ीसा से भी मिली है। लेकिन जैसा कि सरकार ने ध्यान दिलाया है, यह लेख प्रकृत्या ऐसा है कि इसकी प्रति कहीं अन्यत्र मिलने का कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता (दे०, सरकार, इण्डियन एपिग्राफी, पृ० ४३६–७)।

रानी का प्रयाग स्तम्भ-लेख

मूलपाठ

१. देवानंपियषा वचनेना सवत महमता
२. वतविया [।] ए हेता दुतियाये देवीये दाने
३. अंबा-वडिका वा आलमे व दान [गहे] [व] [ए] [वा] [पि] [अ] ं ने
४. कीछि गनीयति ताये देविये षे [।] नानि [हे] वं [ग] [न] [तविये]
५. दुतीयाये देविये ति तीवल-मातु कालुवाकिये [॥]

पाठ-टिप्पणी—प्रथम पंक्ति में हूल्त्ज़ ने 'महामता' को 'महमता' पढ़ा है तथा दूसरी में सेना तथा ब्युलर ने 'हेता' को 'हेत'। हूल्त्ज़ ने चौथी पंक्ति के अन्तिम शब्द को 'विनति' रूप में पुनर्योजित किया है।

शब्दार्थ

सवत = सर्वत्र ; **वतविया** = कहना चाहिए ; **ए हेता** = ये जो ; **अंबावडिका**= आम्रवाटिका ; **आलम** = आराम, विश्रामगृह ; **कीछि** = कुछ ; **गनीयति** = गिने जाने चाहिए अर्थात् पञ्जीकृत होने चाहिए ; **तये** = ये ; **हेवं गनतविये** = अवश्य गिने जाने चाहिए।

अनुवाद

देवानांप्रिय के वचन (अर्थात् आज्ञा) से महामात्रों को सर्वत्र कहना चाहिए, ये जो द्वितीय देवी के दान हैं (जैसे) आम्रवाटिका, विश्रामगृह, दानगृह अथवा अन्य, कुछ ये सब देवी के नाम में गिने जाने चाहिए (अर्थात् पञ्जीकृत होने चाहिए) ये अवश्य गिने जाने चाहिए। द्वितीय देवी तीवर की माता कारुवाकी की (ऐसी इच्छा है)।

व्याख्या

(१) **महामता** = महामात्र। सप्तम स्त० ले० के अनुसार भी महामात्र रानियों के दान कार्यों को भी देखते थे।

(२) **कारुवाकी, तीवर**—कारुवाकी अशोक की एक मात्र रानी है जो अभिलेखों में नाम से उल्लिखित है। जनार्दन भट्ट ने कारुवाक को गोत्र नाम माना है। कुछ ने कारुवाकी को 'चारुवाकी' अर्थ में लिया है। तीवर नाम भी बाद में काफी लोकप्रिय हुआ।

निगलीसागर लघु स्तम्भ-लेख

मूलपाठ

१. देवानंपियेन पियदसिन लाजिन चोदसवसाभिसितेन
२. बुधस कोनाकमनस थुबे दुतियं वढिते [।]
३. [विसति] [व] साभिसितेन च अतन आगाच महीयिते
४. [सिलाथ भं] [च] [उस] पापिते [।]

पाठ-टिप्पणी—तीसरी व चौथी पंक्तियों का पूर्णपाठ रुम्मिनदेई स्तम्भ-लेख के आधार पर ब्युलर ने सुझाया था।

शब्दार्थ

थुबे = स्तूप ; **अतन आगाच** = स्वयं आकर ; **महीयते** = गौरवान्वित किया ।

अनुवाद

चौदह वर्षों से अभिषिक्त देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा द्वारा कनकमुनि बुद्ध का स्तूप दोबारा बढ़ाया गया । बीस वर्षों से अभिषिक्त (राजा) द्वारा स्वयं आकर (उसको) गौरवान्वित किया गया (और शिला स्तम्भ) खड़ा किया गया ।

व्याख्या

(१) **कोनाकमन**—एक प्रत्येक बुद्ध । चौबीस बुद्धों में से एक । गौतम बुद्ध के पूर्व तीसरे । इस कल्प में बुद्ध और कनकमुनि के बीच में कस्सप तथा कनकमुनि के पूर्व कुकुसन्ध, ये चार बुद्ध हो चुके हैं, पाँचवें मैत्रेय आगे होंगे । कनकमुनि ने निर्वाण के लिए स्वयं तो सम्बोधि प्राप्त कर ली थी परन्तु विश्व को उपदेश नहीं दिया था । उत्तरी बौद्धों में उन्हें कनकमुनि या कोनाकमुनि कहा गया है और दक्षिणी बौद्धों में कोणागमन । एक भरहुत-लेख में 'कोनागमेन' पाठ मिलता है (ए० इं०, २१, २२९, स० ३०) । इस लेख से सिद्ध है कि गौतम बुद्ध के अतिरिक्त अन्य बुद्धों के अस्तित्व में विश्वास तीसरी शती ई० पू० में भी प्रचलित था ।

(२) **दुतिय बढिते**—संस्कृत में द्वितीय 'दुगुने' अर्थ में प्रयुक्त होता है । लेकिन विद्वान् यहाँ इसको प्रायः 'द्वितीयं वारम्' अर्थ में ही लेते हैं—अर्थात् यह स्तूप एक बार पहिले भी बढ़ाया जा चुका था, अब दोबारा बढ़ाया गया । पालि में भी 'दुतिय' का प्रयोग 'दो बार' अर्थ में ही होता है । तु० दुतियं पि बुद्धं शरणं गच्छामि ।

(३) कनकमुनि का स्तूप एक बौद्ध तीर्थ था । शुआन-च्वांग ने इसकी यात्रा की थी और यहाँ एक अशोकीय स्तम्भ एवं उस पर उत्कीर्ण लेख को देखा था ।

शार-ए-कुना (कन्धार) लघु शिलालेख

(यूनानी-एरेमाइक संस्करण)

यूनानी संस्करण के अंग्रेजी अनुवाद का अनुवाद

दस वर्ष बीत जाने पर (अर्थात् अभिषेक से दस वर्ष पूर्ण हो जाने के बाद) राजा प्रियदर्शी ने लोगों को धर्म का मार्ग दिखाया है। और उस समय से उसने मानवजाति को अधिक धर्मात्मा बनाया है। और सम्पूर्ण संसार में सभी वस्तुओं की उन्नति हुई है। और राजा पशुओं से (उनको मार कर खाने से) परहेज करता है, और दूसरे मनुष्यों ने भी, मय राजा के शिकारियों तथा मछुओं के, शिकार करना छोड़ दिया है। और जिनको अपने पर संयम नहीं था, उन्होंने ऐसा करना अर्थात् असंयम करना छोड़ दिया है उतना जितना वे कर सकते हैं। और अपने माता-पिता और गुरुजनों के प्रति आज्ञाकारी बनकर जैसा कि पहले नहीं होता था और भविष्य में, वे आगे इस प्रकार आचरण करके श्रेष्ठतर और हर प्रकार से अधिक लाभप्रद जीवन वितायेंगे।

एरेमाइक संस्करण के अंग्रेजी अनुवाद का अनुवाद

दस वर्ष बीत जाने पर (अर्थात् अभिषेक से दस वर्ष पूर्ण हो जाने के बाद) ऐसा हुआ कि हमारे स्वामी प्रियदर्शी ने धर्मोपदेश प्रारंभ किया। तब से सब मनुष्यों में पाप कम हो गया। और सब का दुःख उसने दूर कर दिया है; और सारे संसार में शान्ति (और) आनन्द (व्याप्त है)। और दूसरी बातों में, जिनका सम्बन्ध भोजन से है, हमारे स्वामी राजा के लिए बहुत कम (जीव) मारे जाते हैं। इसको देख कर और लोगों ने भी (जीव-हत्या) बन्द कर दी है यहाँ तक (?) मय उनके जो मछली पकड़ते हैं। उन पर निषेध लागू है। इसी प्रकार जिनमें संयम नहीं था, उन्होंने संयम के बिना रहना बन्द कर दिया है। अब माता, पिता और गुरुजनों के प्रति आज्ञा-कारिता का (बोलबाला है), उन कर्तव्यों के अनुसार जो भाग्य ने किसी पर लागू किए हैं। धार्मिक लोगों पर अब अभियोग नहीं लगाया जाता। यह (अर्थात् धर्म का पालन) सभी मनुष्यों के लिए लाभदायक है और यह भविष्य में भी बराबर रहेगा।

व्याख्या

(१) प्रस्तुत द्विभाषी शिलालेख अशोक के प्राकृत लघु शिलालेखों के आधार पर तैयार किया गया था, परन्तु यह किसी भी अन्य प्राकृत लघु शिलालेख का यथावत् भाषान्तर नहीं है। यूनानी व एरेमाइक संस्करणों में भी कुछ अन्तर है।

(२) प्रस्तुत अभिलेख का अनुवाद रा० ब० पाण्डेय ने डी० श्लूम्बेरगर

तथा अन्य विद्वानों द्वारा 'जर्नल एशियाटीक', १९५८, में पृ० २-३ व २२ पर प्रकाशित अनुवाद के आधार पर किया है (अशोक के अभिलेख, पृ० १९२)। हमने ऊपर जे० फिलिओजेट के द्वारा, ई० आई०, ३४ में प्रदत्त अंग्रेजी अनुवाद का अनुवाद दिया है। लेख के दोनों संस्करणों की संस्कृच्छायाओं के लिए दे० सरकार, स० इ०, पृ० ५२७-८)।

(३) ये अभिलेख स्पष्टत: अशोक के यवन और काम्बोज जातीय प्रजाजनों के लिए थे। इनके प्राप्तिस्थल से यूनानी साक्ष्य द्वारा प्रदत्त यह सूचना कि सिल्यूकस ने काबुल, कन्धार और हिरात प्रदेश मौर्यों को दे दिए थे, सत्य प्रमाणित हो गई है।

(४) सरकार के अनुसार प्रस्तुत अभिलेखों से यह निश्चित रूप से प्रमाणित हो जाता है कि अशोक के धम्म का प्रचार अभिषेक से दस वर्ष व्यतीत हो जाने के बाद प्रारम्भ किया। इससे उसके उपासकत्व के विषय में प्रचलित वादविवाद का अन्त हुआ मानना चाहिए (दे०, सरकार, ई० आई०, १, ३४, पृ० ३३३ अ०)।

(५) इस लेख में स्पष्टत: कहा गया है कि अशोक के काल में शिकारियों व मछुओं ने अपना काम बन्द कर दिया था और उनके काम पर निषेध लगा दिया गया था।

तक्षशिला एरेमाइक–अभिलेख

(लैटिन लिप्यन्तर)

1. .... UT......
2. Id KMYRTY 'I.........
3. KYNVTA 'I...
4. Ar Kn ZV ŚKYNVTA...
5. V LABVHY HUH...
6. HVPTYXTY ZNH...
7. ZK BHVVd Nr RH...
8. HVBŚTVK RZY HUT...
9. MRAN PRYDR...
10. H...IKVTH
11. VAP BNVHY
12. IMRAN PRAYDRŚ

व्याख्या

(१) प्रस्तुत अभिलेख का लैटिन लिप्यन्तर हर्ज़फल्ड के आधार पर दिया गया है (ई० आई०, १९, पृ० २५१)। इसकी सभी पंक्तियों का उत्तरार्द्ध भग्न मिलता है।

(२) इस लेख में अशोक का नाम नहीं है। कुछ विद्वान् इसे तीसरी शती ई० पू० के पूर्वार्द्ध का बताते हैं और इसमें उल्लिखित नरेश को चन्द्रगुप्त मौर्य या बिन्दुसार मानते हैं (तु० 'मुद्राराक्षस' में चन्द्रगुप्त को 'प्रियदर्शन' कहा जाना)। सरकार (सं० इ०, पृ० ७९, टि० ३) इसके नरेश को अज्ञात मानते हुए भी उसके अशोक होने की सम्भावना सर्वाधिक बताते हैं। परन्तु इस नरेश को प्रियदर्शी कहे जाने से हमें हर्ज़फल्ड का यह मत सही लगता है कि वह स्वयं अशोक ही होना चाहिए। आखिर अशोक के शेष अधिकांश अभिलेखों में भी तो उसे मात्र प्रियदर्शी ही कहा गया है।

(३) हर्ज़फल्ड के अनुसार चौथी पंक्ति में किसी 'निवास स्थान' का उल्लेख हुआ लगता है, पाँचवीं के प्रथम दो शब्दों का अर्थ है 'और उसके पिता को', सातवीं पंक्ति का दूसरा शब्द भारतीय शब्द 'बहुव्रीहि' हो सकता है, ९ वीं पंक्ति के शब्दों का अर्थ है 'हमारे स्वामी प्रियदर्शी', ११ वीं का अर्थ है 'और उसके पुत्र भी' तथा १२ वीं का अर्थ है 'हमारे स्वामी प्रियदर्शी को'। हर्ज़फल्ड ने १० वीं पंक्ति में अन्तिम शब्द को पुनर्योजित करके उसको 'और उसकी रानियाँ' अर्थ में लिया है।

(४) हर्ज़फल्ड का विचार है कि पाँचवीं पंक्ति का अन्तिम अक्षर नैतिक विचार-क्षेत्र का है (जैसे जरथुष्ट्री 'पवित्र विचार, पवित्र वचन और पवित्र कार्य')। यहाँ इसका सम्बन्ध बौद्ध धर्म के आर्य अष्टांगिक मार्ग के सम्यक् दृष्टि, सम्यक् व्यायाम तथा सम्यक् वाक् आदि से हो सकता है। इससे इस लेख के प्रियदर्शी की अशोक से पहिचान विषयक मत को बल मिलता है।

बराबर गुहा-लेख

(प्रथम)

१. लाजिना पियदसिना दुवाडस [वसाभिसितेना]
२. इयं निगोहकुभा दिना आजीविकेहि [॥]

पाठ-टिप्पणी—इस लेख में और अगले दोनों लेखों में 'लाजा' उपाधि 'पिय-दसि' नाम के बाद लिखी है।

शब्दार्थ

दुवाडस=द्वादश, बारह ; **निगोह कुभा**=न्यग्रोध गुफा (गुफा का नाम) ; **दिना**=दी गई।

अनुवाद

द्वादश वर्ष से अभिषिक्त राजा प्रियदर्शी द्वारा यह न्यग्रोध (नामक) गुफा आजीविकों को दी गई।

व्याख्या

'आजीविक' एक वैदिकेतर सम्प्रदाय का नाम था। इसके प्रवर्तक मक्खलि-गोसाल थे, जो बुद्ध के समकालीन थे। उनके अलावा इस सम्प्रदाय में बाद में नन्दवच्छ, किससं किच्च, पुराण कस्सप, पकुध कच्चायन, अजित के सकम्बलि और सम्जय वेलट्ठ पुत्र को भी मान्यता मिली।

बराबर गुहा-लेख

(द्वितीय)

मूलपाठ

१. लाजिना पियदसिना दुवा
२. डसवसाभिसितेना इयं
३. कुभा खलतिक पवतसि
४. दिना आजीविकेहि

अनुवाद

द्वादश वर्ष से अभिषिक्त राजा प्रियदर्शी द्वारा खलतिक पर्वत पर यह गुफा आजीविकों को दी गई।

व्याख्या

अशोक के समय बराबर नाम की पहाड़िया खलतिक पर्वत कहलाती थीं। पतञ्जलि के 'महाभाष्य' में खलतिक पर्वत का उल्लेख है। खारवेल के हाथिगुम्फा-लेख में इसे गोरथगिरि कहा गया है। अनन्तवर्मा मौखरी के लेख में बराबर को 'प्रवरगिरि' कहा गया है (फ्लीट, कॉर्पस, ३, पृ० २२३)। इसी से आधुनिक नाम 'बराबर' व्युत्पन्न हुआ है।

बराबर गुहा-लेख

(तृतीय)

मूलपाठ

१. लाज पियदसि एकुनवी
२. सतिवसाभिसिते जलघो
३. सागमथात वे इयं कुभा
४. सुपिये ख [लतिक] [पवतसि] दि
५. ना [॥]

पाठ-टिप्पणी—इसमें दूसरी-तीसरी पंक्ति में सरकार ने 'जलघोसागमे थात वे' पाठ माना है और एस० एन० मित्र ने 'जलूघा उगम थातवे'। हूल्त्ज व पाण्डेय ने तीसरी पंक्ति में 'वे' को 'मे' पढ़ा है। चौथी पंक्ति के खण्डित अंश को दूसरे लेख की सहायता से पूरा किया गया है। लेख के अन्त में स्वस्तिक, खड्ग और मत्स्य की आकृतियाँ वनी हैं।

शब्दार्थ

एकुनवीसति=उन्नीस ; **जलघोसागम**=वर्षागम (वर्षाकाल) में ; **थात वे**=स्थातवे, रहने के लिए ; **सुपिये**=सुप्रिय।

अनुवाद

उन्नीस वर्ष से अभिषिक्त राजा प्रियदर्शी द्वारा वर्षा काल में निवास के लिए सुप्रिय खलतिक पर्वत पर यह गुहा दी गई।

व्याख्या

शायद यह गुफा भी आजीविकों को ही दी गई थी यद्यपि इसमें उनका नाम से उल्लेख नहीं है। प्रस्तुत अभिलेखों से अशोक की आजीविक सम्प्रदाय में रुचि प्रमाणित होती है। 'महावंस टीका' के अनुसार जनसान या जरसान (या जरसोण) नाम के आजीविक ने अशोक की भावी महत्ता की भविष्यवाणी की थी। जब अशोक राजा बना, उसने जनसान को बुलाकर सम्मानित किया था। 'दिव्यावदान' में यह कथा बिन्दुसार के विषय में दी गई है और भविष्यवाणी करने का श्रेय आजीव-परिव्राजक पिंगलवत्स को दिया गया है। भाण्डारकर (अशोक, पृ० १७९) ने उन आजीविकों को, जिन्हें गुहाएँ दान दी गई थीं, ब्राह्मण माना है। परन्तु यह मान्यता निराधार है।